क्र० ५५/१०

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

कल्याण

धर्म



वर्ष ५०] * * * [अङ्क १०



(संस्करण १,७६,५००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर कार्तिक, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०२, अक्टूबर १९७६

चित्र-सूची

Free of charge] जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥ [बिना मूल्य

आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

मुद्रक-प्रकाशक एवं स्थानापन्न सम्पादक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

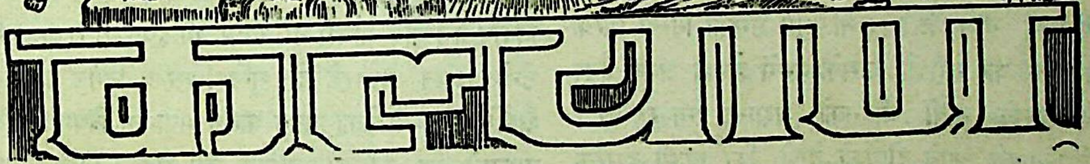

पुस्तकालय,
मुमुक्षु भवन, असी, काशी.



भगवान् भास्कर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥





यस्य श्रीकरुणार्णवस्य करुणालेशेन बालो ध्रुवः स्वेष्टं प्राप्य समार्यधाम समगाद्रङ्कोऽप्यविन्दच्छ्रियम् ।
याता मुक्तिमजामिलादिपतिताः शैलोऽपि पूज्योऽभवत् तं श्रीमाधवमाश्रितेष्टदमहं नित्यं शरण्यं भजे ॥

वर्ष ५० } गोरखपुर, सौर कार्तिक, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०२, अक्टूबर १९७६ { संख्या १०
पूर्ण-संख्या ५९९

भगवान् भास्कर जगत्की रक्षा करें

भास्वद्रत्नाढ्यमौलिः स्फुरदधररुचा रञ्जितश्चारुकेशो
भास्वान् यो दिव्यतेजाः करकमलयुतः स्वर्णवर्णः प्रभाभिः ।
विश्वाकाशावकाशाग्रहपतिशिखरे भाति यश्चोदयाद्रौ
सर्वानन्दप्रदाता हरिहरनमितः पातु मां विश्वचक्षुः ॥

(भविष्यपु०, आदित्यहृदयस्तोत्रसे)

'जिनके मस्तकपर दिव्य रत्नजटित मुकुट देदीप्यमान हो रहा है, मन्द-मन्द मुस्कानयुक्त अधरोष्ठोंकी कान्तिसे जिनकी अलकावली अनुरञ्जित हो रही है, जो दिव्य तेजके कारण सुवर्णतुल्य कान्तिसे युक्त हैं तथा जो हाथोंमें कमल धारण किये हुए हैं, जो उदयाचलपर उदित होते समय सम्पूर्ण आकाश एवं अन्तरिक्षमें प्रकाशमान ग्रहपतियोंमें मुकुटमणिके समान सुशोभित होते हैं, जो सभीको आनन्द प्रदान करनेवाले हैं, जिन्हें भगवान् विष्णु एवं शंकर भी प्रणाम करते हैं, वे लोकलोचन भगवान् भास्कर मेरी (तथा आत्मस्वरूप जगत्की) रक्षा करें ।'

कल्याण

किसीके दोषोंका बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन कर, उसके दोषोंकी बहुत बड़ी आलोचना कर, दोषोंके लिये जनसमूहमें उसे बदनाम करके यदि तुम यह आशा रखते हो कि तुम्हारे ऐसा करनेसे वह दोषमुक्त हो जायगा तो यह तुम्हारी भूल ही है। प्रथम तो यही निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि तुम जो किसीमें जितने और जैसे दोषोंकी कल्पना करते हो, देखते हो, वे उसमें हैं या नहीं। हो सकता है तुम्हारी धारणा भ्रान्त हो, मत-वैचित्र्य होनेसे ही तुम्हें वैसा प्रतीत होता हो, भिन्न परिस्थितिके कारण तुम्हें वैसा दीखता हो अथवा द्वेषके कारण दोष-बुद्धि हो जानेसे तुम्हें उसमें अपने ही दृष्टिकोणसे दोष दिखायी देते हों। यदि ऐसी बात है, तब तो तुम उसकी निन्दा करके नया पाप कर रहे हो, उसके मनमें द्वेषका अङ्कुर पैदा करके उसके भावी जीवनको अशान्त बना रहे हो। इसलिये पहले अपने दोषोंको देखो, फिर किसी दूसरेके दोषोंकी ओर दृष्टि डालो। आलोचना, निन्दा तथा अपशब्दोंके द्वारा किसीका जी दुखानेसे तो सदा बचे ही रहो।

यदि किसी अंशमें किसीमें कोई दोष हो भी, तो क्या तुम्हारेमें कोई दोष नहीं है ? और उसकी बड़ी आलोचना या निन्दा करके अथवा उसके प्रति अवाच्य शब्दोंका प्रयोग करके क्या तुम भी भयानक भूल नहीं कर रहे हो ?

किसीके दोषोंका बखान करना, उसे दोषी सिद्ध करके लोगोंकी दृष्टिमें उसे गिरानेका प्रयत्न करना—उसके दोषोंको केवल दृढ़ करनेमें ही कारण नहीं होता, वरं उसके दोषोंके स्वरूपको और भी भीषण बनाने और दोषोंकी संख्या बढ़ानेमें भी कारण होता है। किसीको दोषी सिद्ध करके उस दोषको सदाके लिये उसके पल्ले मत बाँध दो। उसको निर्दोष बनानेके लिये उसे अपनाकर, उससे प्रेम कर, उसके दुःखमें सच्ची सहानुभूति प्रकट कर और उसके थोड़ेसे भी सच्चे गुणोंकी सच्ची प्रशंसा करके ऐसी सुन्दर स्थिति उत्पन्न कर दो कि जिसमें वह तुमको अपना हितैषी—सुहृद् समझे और तुम्हारा प्रेमभरा संकेत पाते ही अपने दोषको तुरंत निकाल फेंके और उस स्थितिमें वह आराम—शान्तिका अनुभव तथा गौरवका भी बोध करे।

तुम यदि किसीकी कड़ी आलोचना करते हो, उसकी निन्दा करते हो और द्वेष-द्रोह तथा अपमानभरी कटु वाणीसे किसीको लाञ्छित करनेका प्रयत्न करते हो—और तुम्हारी इस दूषित वाणीको सुनकर सुननेवाले लोग प्रसन्न होते हैं, तालियाँ पीटकर अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हैं, तुम्हारी प्रशंसा करते और तुम्हें वाहवाही देते हैं, तो समझ लो कि तुमने जनताके मानस-स्तरको नीचे तो गिरा ही दिया है, साथ ही तुम निर्दोष मनुष्योंके मानस-धरातलपर भी द्वेषकी धारा बहाकर उन्हें दूषित कर रहे हो; सुन्दर, सरल, निर्मल मानस-क्षेत्रोंमें विष-बीजोंका वपन करके भयानक विषमय फल उपजाने जा रहे हो, लोगोंमें द्वेष-द्रोहका विस्तार कर उनमें वैर-विरोध और क्रोध-हिंसाका प्रचार-प्रसार कर रहे हो, जगत्में शत्रुभावका विषाक्त वातावरण उत्पन्न करके प्रकृतिमें भीषण विक्षोभ उत्पन्न कर रहे हो और परिणाममें जगत्के प्राणिसमुदायको नरकानलकी भीषण लपटोंमें जलानेका आयोजन कर रहे हो। सोचो, तुम अपने अभिमानके कारण कितना बड़ा पाप कर रहे हो!

जैसे नदीके दोनों ओर खड़े हुए लोग बीचकी प्रबल जलधाराके भयसे नहीं मिल पाते—उनको मिलानेके लिये उस जलधारापर पुल बाँधनेवाले, बीचकी गहरी और चौड़ी दरारको भरकर सुन्दर मार्गका निर्माण करनेवाले और जैसे धागा अपना प्रिय अङ्ग देकर सुईके किये हुए छेदको भर देता है, वैसे ही अपना बलिदान करके दूसरोंके छिद्रोंको छिपा देनेवाले लोग ही प्रेमका यथार्थ विस्तार करके द्वेष-वैर और हिंसा-प्रतिहिंसाकी ज्वालासे जलते हुए जगत्को सुख-शान्तिकी सुधाधारासे आप्लावित कर उसका सच्चा हित कर सकते हैं और उनका अपना हित भी इसीमें भरा है। —'श्रीभाईजी'

ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

ईश्वरको मानिये, किंतु जानिये भी

आजकल ईश्वरके अस्तित्वके विषयमें भी कुछ लोग संदेह करने लगे हैं। दूसरे एक आश्चर्यकी बात यह भी है कि कुछ लोग ईश्वरको मानते हुए भी नहीं जानते। ईश्वरके तत्त्वको न जानकर ईश्वरको माननेवाले कहते हैं कि ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, कर्मफलदाता, सत्य-विज्ञान-आनन्दघन है। वे इस प्रकार ईश्वरके स्वरूपको बतलाते तो हैं, पर वे ईश्वरके निर्माण किये हुए नियमोंका पालन नहीं करते। ऐसे पुरुषोंका ईश्वरको मानना केवल कथनमात्र है, ऐसे ही मनुष्योंके अज्ञानका यह परिणाम है कि संसारमें दूसरे कुछ लोग आज ईश्वरके अस्तित्वमें भी संदेह करने लगे हैं। ईश्वरको सर्वथा न माननेवालोंकी अपेक्षा अन्धश्रद्धासे भी ईश्वरके माननेवालोंको उत्तम समझता हुआ ही मैं उनकी यहाँ आलोचना इसलिये कर रहा हूँ कि ऐसे अन्धश्रद्धावाले मनुष्य भी अनीश्वरवादके प्रचारमें एक कारण बने हुए हैं। जो वास्तवमें ईश्वरको समझकर ईश्वरको मानते हैं, उन्हींका मानना प्रशंसनीय है। क्योंकि जो ईश्वरके तत्त्वको जान जाता है, उसके आचरण परमेश्वरकी मर्यादाके प्रतिकूल नहीं होते, प्रत्युत उसीके आचरण प्रमाणभूत और आदरणीय होते हैं। भगवान् कहते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
(गीता ३। २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी उनके ही अनुसार बर्तते हैं, वह पुरुष जो कुछ प्रमाण कर देता है, दूसरे लोग भी उसके अनुसार बर्तते हैं।' ऐसे पुरुष ही ईश्वरवादके सच्चे प्रचारक हैं, मैं तो एक साधारण व्यक्ति हूँ। यद्यपि ईश्वर-विषयक प्रश्नोंके उत्तर देनेमें मैं असमर्थ हूँ, तथापि पाठकोंके लिये साधु पुरुषोंके सङ्ग और अपने विचारसे उत्पन्न हुए भावोंका अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार कुछ अंश अपने मनोविनोदके लिये उनकी सेवामें रखता हूँ। सज्जनगण मुझे बालक समझकर मेरी त्रुटियोंको क्षमा करेंगे; क्योंकि ईश्वरका विषय बड़ा गहन और रहस्यपूर्ण है, इस विषयमें बड़े-बड़े पण्डितजन भी मोहित हो जाते हैं, फिर मुझ-सरीखे साधारण मनुष्यकी तो बात ही क्या है।

१—(क) ईश्वर बिना ही कारण सबपर दया करता है, प्रत्युपकारके बिना न्याय करता है और सबको समान समझकर सबसे प्रेम करता है। इसलिये उसको मानना हमारा कर्तव्य है और कर्तव्य-पालन करना ही मनुष्यका मनुष्यत्व है।

(ख) ईश्वरको माननेसे उसकी प्राप्तिके लिये उसके गुण, प्रेम, प्रभावको जाननेकी खोज होती है और उसके नामका जप, स्वरूपका ध्यान, गुणोंके श्रवण-मननकी चेष्टा होती है, जिससे मनुष्यके पापों, अवगुणों एवं दुःखोंका नाश होकर उसे परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है।

(ग) अच्छी प्रकारसे समझकर ईश्वरको माननेसे मनुष्यके द्वारा किसी प्रकारका दुराचार नहीं हो सकता। जिन पुरुषोंमें दुराचार देखनेमें आते हैं, वे वास्तवमें ईश्वरको मानते ही नहीं हैं। वे ऊपरसे ही ईश्वरवादी बने हुए हैं।

(घ) सच्चे हृदयसे ईश्वरको माननेवालोंकी सदासे विजय होती आयी है। ध्रुव-प्रह्लादादि-जैसे अनेकों ज्वलन्त उदाहरण शास्त्रोंमें भरे हैं। वर्तमानमें भी सच्चे हृदयसे ईश्वरको मानकर उसकी शरण लेनेवालोंकी प्रत्यक्ष उन्नति देखी जाती है।

(ङ) समस्त श्रुति, स्मृति आदि शास्त्रोंकी सार्थकता भी ईश्वरके माननेसे ही सिद्ध होती है; क्योंकि सम्पूर्ण शास्त्रोंका ध्येय ईश्वरके प्रतिपादनमें ही है

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
आदौ मध्ये तथा चान्ते हरिः सर्वत्र गीयते॥
(महा० स्वर्गारोहण० अ० ६)

इसी प्रकार ईश्वरको माननेसे और भी अनन्त लाभ हैं।

२–(क) कर्मोंके अनुसार फल भुगतानेवाले सर्वव्यापी परमात्माकी सत्ता न माननेसे मनुष्यमें उच्छृङ्खलता बढ़ती है। उच्छृङ्खल मनुष्यमें झूठ-कपट, चोरी-जारी, हिंसादि पाप-कर्मोंकी एवं काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि अवगुणोंकी वृद्धि होकर उसका पतन हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप वह और महादुःखी बन जाता है।

(ख) ईश्वरको न माननेसे ईश्वरके तत्त्वज्ञानकी खोज नहीं हो सकती और तत्त्वज्ञानकी खोजके बिना ईश्वरके तत्त्वका ज्ञान नहीं होता और ज्ञानके बिना मानवका कल्याण नहीं हो सकता।

(ग) ईश्वरको न माननेसे–कृतघ्नताका दोष आता है; क्योंकि जो पुरुष सारे संसारकी उत्पत्ति तथा पालन करनेवाले, सबके सुहृद्, उस परमपिता परमात्माको ही नहीं मानते, वे यदि अपनेको जन्म देनेवाले माता-पिताको भी न मानें, तो क्या आश्चर्य है? और जन्मसे ही उपकार करनेवाले माता-पिताको न माननेवालेके समान दूसरा कौन कृतघ्न हो सकता है?

३–ईश्वरके अस्तित्वमें प्रमाण पूछना कोई आश्चर्य-जनक बात या बुद्धिमत्ताकी बात नहीं है। इस विषयमें प्रश्न करना साधारण है। स्थूलबुद्धिसे न समझमें आनेवाले विषयमें समझदार पुरुषोंको भी शङ्का हो जाती है, फिर साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या है? परंतु विचारनेकी बात है कि जो परमात्मा स्वतःप्रमाण है और जिस परमात्मासे ही सब प्रमाणोंकी सिद्धि होती है, उसके विषयमें प्रमाण पूछना आश्चर्य भी है, जैसे किसी मनुष्यका अपने ही सम्बन्धमें शङ्का करना कि 'मैं हूँ या नहीं' व्यर्थ है, वैसे ही ईश्वरके अस्तित्वके विषयमें पूछना भी है। यदि कोई कहे कि 'मैं तो प्रत्यक्ष हूँ, ईश्वर तो ऐसा नहीं है' सो यह कहा तो जा सकता है, परंतु असल बात तो यह है कि परमात्मा इससे भी बढ़कर प्रत्यक्ष है। कोई पूछे कि 'हमसे बढ़कर परमात्माकी प्रत्यक्षता कैसे है?' इसका उत्तर यह है कि उसी प्रकार, जैसे स्वप्न-अवस्थाके अनुभव किये हुए पदार्थ जाग्रत्-अवस्थामें नहीं रहते। फिर यह भी शङ्का हो सकती है कि यह जाग्रत्-अवस्थामें दीखनेवाले पदार्थ भी किसीका स्वप्न हो, क्योंकि जैसे स्वप्नके पदार्थोंका स्वप्न-अवस्थामें परिवर्तन देखते हैं, वैसे ही जाग्रत्-अवस्थाके पदार्थोंका जाग्रत्-अवस्थामें परिवर्तन देखते हैं, परंतु जिससे इन सबकी सत्ता है और जो सबके नाश होनेपर भी नाश नहीं होता, जो सबका आधार और अधिष्ठान है, उस निर्विकार परमात्माकी प्रत्यक्षता हमारे व्यक्तिगत अस्तित्व-की अपेक्षा बहुत विशेष है, पर इस प्रकारकी प्रत्यक्षता उन्हीं महात्मा पुरुषोंको होती है, जिनकी महिमा सब शास्त्र गाते हैं। जो सूक्ष्मदर्शी हैं, वे ही सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा परमात्माका प्रत्यक्ष साक्षात्कार करते हैं। इस विषयमें श्रुति-स्मृति, इतिहास-पुराणादि शास्त्र और महात्मा पुरुषोंके वचन प्रमाण हैं। जिनको स्वयं साक्षात् करने-की इच्छा हो, वे उनका अनुसरण करते हुए साधना करें, तो परमात्माको प्रत्यक्ष कर सकते हैं।

परमात्माके अस्तित्वकी सिद्धिमें युक्ति भी प्रमाण है। कार्यकी सिद्धिसे कारणके निश्चय करनेको युक्तिप्रमाण कहते हैं। संसारमें किसी भी वस्तुकी उत्पत्ति और उसका संचालन किसी कर्ताके बिना नहीं देखा जाता। इसीसे यह निश्चय होता है कि पृथ्वी, समुद्र, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, अग्नि, वायु, आकाश, दिशा और कालकी रचना एवं नियमानुसार उनका

संचालन करनेवाली किसी बड़ी भारी शक्तिका होना आवश्यक है। उसी शक्तिको परमात्मा समझना चाहिये। यदि कहें कि 'विना कर्ताके प्रकृतिसे ही अपने-आप सब उत्पन्न हो जाते हैं, इसमें कर्ताकी कोई आवश्यकता नहीं; जैसे वृक्षसे बीज और बीजसे वृक्ष अपने-आप ही उत्पन्न होते हुए देखनेमें आते हैं' किंतु ऐसा कथन युक्तियुक्त नहीं है। प्रथम तो यह बात विचारनी चाहिये कि पहले बीजकी उत्पत्ति हुई या वृक्षकी ? यदि कहें कि वृक्षकी, तो वृक्ष कहाँसे आया ? और बीजकी कहें, तो फिर बीज कहाँसे आया ? यदि दोनोंकी उत्पत्ति एक साथ कहें, तो उत्पत्ति किसके द्वारा और कब हुई ? क्योंकि बिना किसी कारणके कार्यकी उत्पत्ति सम्भव नहीं। अतः जिससे और जिसके द्वारा बीज-वृक्ष आदिकी उत्पत्ति हुई है, वे ही परमात्मा हैं।

दूसरा प्रश्न होता है कि यह प्रकृति जड़ है या चेतन। यदि कहा जाय कि जड़ है, तो चेतनकी सत्ता-स्फूर्तिके बिना किसी पदार्थका उत्पन्न और संचालन होना सम्भव नहीं और यदि चेतन है तो फिर हमारा कोई विरोध नहीं, क्योंकि वह चेतन-शक्ति ही परमात्मा है; जिसके द्वारा इस संसारकी उत्पत्ति हुई है। केवल संसारकी उत्पत्ति ही नहीं, चेतनकी सत्ता बिना इस संसारका संचालन भी नियमानुसार नहीं हो सकता। बिना सहायक यन्त्रोंके किसी छोटे-से-छोटे यन्त्रका भी संचालन होता नहीं दिखायी देता। किसी भी कार्यका संचालन हो, बिना संचालकके वह नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। अतएव जिससे इस संसारका नियमानुसार संचालन होता है, उसीको परमात्मा समझना चाहिये। जीवोंके किये हुए कर्मोंके फलोंका भी सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, परमात्माके बिना यथायोग्य भुगताया जाना सम्भव नहीं है। यदि कहें कि कर्मोंके अनुसार कर्ता पुरुषको किये हुए कर्मोंका फल अपने-आप मिल जाता है तो यह कहना युक्तियुक्त नहीं; क्योंकि कर्म जड़ होनेके कारण उनमें यथायोग्य फल-प्रदान करनेकी शक्ति ही नहीं है और जीव बुरे कर्मोंका फल—दुःख स्वयं भोगना चाहता नहीं। चोर चोरी करता है और चोरीके अनुसार राजा उसे दण्ड देता है, परंतु न तो वह चोर कारागारमें स्वयं जाता है और न वह चोरीरूप कर्म ही उसे जेल पहुँचा सकता है। राजाकी आज्ञासे नियत किये हुए अधिकारीलोग ही चोरीके अपराधके अनुसार उसे कारावासका दण्ड देते हैं। इसी प्रकार पाप-कर्म करनेवाले पुरुषोंको परमेश्वरके नियत किये हुए अधिकारी देवता पापकर्मोंका दुःखरूप दण्ड देते हैं। ऐसे ही यह जीव किये हुए सुकृत कर्मोंका फलरूप सुख भोगनेमें भी असमर्थ है। जैसे किसी राजाके कानूनके अनुसार चलनेवाले व्यक्तिको राजा या उनके द्वारा नियुक्त किये हुए पुरुषोंद्वारा कर्मोंके अनुसार नियत किया हुआ ही पुरस्कार मिलता है, उसी प्रकारसे पुण्य कर्म करनेवाले पुरुषोंको भी उनके कर्मोंके अनुसार परमेश्वरद्वारा नियत किया हुआ फल मिलता है। अज्ञानके द्वारा मोहित होनेके कारण जीवोंको अपने कर्मोंके अनुसार स्वतन्त्रतासे एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जानेका सामर्थ्य और ज्ञान भी नहीं है।

इसके अतिरिक्त सृष्टिके प्रत्येक कार्यमें सर्वत्र प्रयोजन देखा जाता है। ऐसी प्रयोजनवती सृष्टिकी रचना बिना किसी परम बुद्धिमान् चेतन कर्ताके सम्भव नहीं है।

इस उपर्युक्त विवेचनसे यही बात सिद्ध होती है कि परमेश्वरके बिना न तो संसारकी उत्पत्ति सम्भव है और न संचालन ही। जीवोंके कर्म—यथायोग्य फलोंकी प्राप्ति या सप्रयोजन सृष्टि भी ईश्वरके बिना सम्भव नहीं है।

४—ईश्वरकी कृपासम्बन्धी घटनाएँ मेरे तथा सबके जीवनमें क्षण-क्षण घटती हैं; पर वे गोपनीय हैं, अतः मैं उन्हें प्रकट नहीं करना चाहता।



हमारे परम अन्तरङ्ग भगवान्

(लेखक—अनन्तश्रीविभूषित स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

जीवात्मा सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माका ही अंश है। जैसे घटाकाश, महाकाश, शरावाकाशके भीतर, बाहर, मध्यमें भी महाकाश है; जैसे स्वर्णिम कटक—मुकुट आदिके भीतर, बाहर, मध्यमें भी सुवर्ण है और जैसे तरंगके भीतर, बाहर, मध्यमें भी जल विद्यमान है, वैसे ही चेतन, अमल, सहज, सुखराशि जीवात्माओंके भीतर, बाहर, मध्यमें भी सच्चिदानन्दघन परमात्मा विद्यमान हैं। इस दृष्टिसे जीवात्मा भगवान्का पुत्र, अंश एवं स्वरूप है। जैसे सिंहके बच्चे सिंह ही होते हैं, वैसे ही—'अमृतस्य पुत्राः,' **'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५।७) इत्यादि श्रुति-स्मृतिके अनुसार भगवान्का पुत्र या अंश जीवात्मा भी भगवान्का ही स्वरूप सिद्ध होता है। जैसे निर्मल जल पृथ्वीपर पड़ते ही मलिन हो जाता है, वैसे ही शुद्ध चिदात्मा मायाके संसर्गसे मलिन हो जाता है। श्रीभगवान् जीवोंके परम अन्तरंग और घनिष्ठ सम्बन्धी हैं। संसारकी सभी भौतिक वस्तुओंके संयोग-वियोग दोनों ही होते रहते हैं। इसी प्रकार कलत्र, पुत्र, मित्र, क्षेत्र सभी वस्तुओंके साथ जीवात्माका सम्बन्ध गौण ही है। मुख्य सम्बन्ध तो भगवान्का ही है। जीवात्मा स्वर्ग-नरक जहाँ भी जाय; भगवान् सदा ही उसके साथ रहते हैं और सभी लोग तो उससे सम्बन्ध तोड़ ही लेते हैं।

अघासुरके मुखमें ग्वाल-बाल प्रविष्ट हो गये, उसके विषसे उन्हें जलते हुए देखकर प्रभु श्रीकृष्ण भी उसके मुखमें प्रविष्ट हो गये। संसारमें है किसीकी प्रीति या शक्ति ऐसी, जो एक साँपके मुखमें पड़े पुत्र या मित्रके साथ स्वयं भी चला जाय ? किसी स्त्रीका पुत्र कूपमें गिरता है, वह कूपके तटपर खड़ी होकर चिल्लाती है—'दौड़ो, दौड़ो, बच्चेको निकालो' पर कूपमें उतरनेकी हिम्मत उसमें नहीं होती। फिर साँपके मुखमें कौन प्रविष्ट होनेको तैयार रहेगा ? गाढ़-से-गाढ़, विषम-से-विषम स्थानोंमें जीवात्माके साथी भगवान् ही हैं। माँके पेटमें, विभिन्न योनियोंमें, नरकमें, किंबहुना जहाँ भी जीवात्माको जाना होता है, भगवान् वहीं जाते हैं। जैसे महाकाश घटाकाशका, जल तरंगका सङ्ग नहीं छोड़ सकता, वैसे ही भगवान् हमारा सङ्ग नहीं छोड़ते। जब जीवात्मा अपने असली सम्बन्धी भगवान्को भूलकर नकली सम्बन्धियोंके माया-जालमें फँस जाता है, तभी माया उसे दुःखमहोदधिमें डालकर उसके मस्तिष्कको ठिकाने लानेका प्रयत्न करती है। जब प्राणी यहाँतक उन्मादी बन बैठता है कि ईश्वर और धर्मको अनावश्यक समझने लगता है; भगवान्के ही बनाये दिल-दिमागसे अपनी वैज्ञानिक चमत्कृतियोंपर मुग्ध होकर कहता है कि 'वैज्ञानिक दृष्टि, पार्थिवादि प्रपञ्चों या प्रकृतिसे ही सम्पूर्ण काम सिद्ध हो जाते हैं, ईश्वर और धर्म तो केवल झगड़ेकी जड़ हैं या भीरु प्राणियोंके मनके वहम हैं—तब कहीं व्यापक भूकम्पोंद्वारा, कहीं महामारियोंद्वारा, कहीं प्राकृतिक विकट तूफानों या विश्वव्यापी नरसंहारोंद्वारा प्रकृति प्राणियोंको परमात्माका स्मरण दिलाती है। फिर भी जैसे कल्याणमयी करुणामयी पुत्रवत्सला अम्बा अपने शिशुओंका कभी भी अहित नहीं चाहती, वैसे ही प्रभु भी कभी प्राणियोंका अहित नहीं चाहते। तभी तो वे निरीश्वरवादी प्राणियोंका भी कल्याण चाहते हैं, उनपर भी कुपित नहीं होते। इसी आशापर तो ब्रह्माने कहा था कि 'हे नाथ ! यद्यपि मैंने आपकी कौतुकपूर्ण क्रीडामें विघ्न डाला, आपके बछड़ों और ग्वालबालोंका हरण करके बड़ा ही अपराध किया, तथापि प्रभो ! जैसे अम्बा गर्भगत शिशुके पैर फटकारनेको अपराध नहीं मानती, वैसे ही आप भी हमारे ऐसे कर्मोंपर ध्यान न दें। प्रभो ! सम्पूर्ण विश्व ही आपके उदरमें है, फिर गर्भगत शिशुके समान ही प्राणियोंके अपराधोंको क्षमा करना क्या उचित नहीं है ?

> उत्क्षेपणं गर्भगतस्य पादयोः
> किं कल्पते मातुरधोक्षजागसे।
> किमस्तिनास्तिव्यपदेशभूषितं
> तवास्ति कुक्षेः कियदप्यनन्तः॥
> (श्रीमद्भा० १०।१४।१२)

प्रभुने उनको क्षमा कर दिया। उन्होंने सरल-से-सरल उपाय शास्त्रोंद्वारा बता रखा है। पत्र, पुष्प, फल, जल, नमस्कारहीसे प्रभु प्रसन्न हो सकते हैं। कुछ भी न हो, तो केवल मनसे ही पूजन, स्मरण और वह भी न बन पड़े, तो भाव-कुभाव—जिस किसी तरह भगवान्के नाम या जपसे ही परम गति प्राप्त हो सकती है। जब एक अदृष्ट शक्तिपर जो कि वस्तुतः सबका द्रष्टा या असली स्वरूप है,

पूर्ण विश्वास होगा, तब भान होगा कि आत्माका वही सच्चा सम्बन्धी है। फिर संसारके सम्बन्ध फीके लगने लगेंगे; क्योंकि स्त्री-पुत्र आदि सम्पूर्ण दुनियाके सम्बन्ध तो केवल स्थूल देहके साथ ही हैं, जो उसके नष्ट होते ही अपने आप ही छूट जाते हैं।

यत्प्रातः संस्कृतं चान्नं सायं तच्च विनश्यति।
तदीयरससम्पुष्टे काये का नाम नित्यता॥
(भागवतमाहा० ५। ६१)

'जो भात आज प्रातःकाल पकाया जाता है, वह सायंकाल-तक सड़ जाता है, उसमें दुर्गन्ध आने लगती है। फिर, उसीसे पले-पोसे विनश्वर, क्षणभङ्गुर शरीरका आत्माके साथ कहाँतक सम्बन्ध रह सकता है?' एक जन्मकी बात कौन कहे जन्म-जन्मान्तरों, युग-युगान्तरों, कल्प-कल्पान्तरोंके देहों एवं तत्सम्बन्धी पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, कलत्रोंका स्मरण करें तो चित्तकी क्या दशा होगी? यही समझकर आचार्यचरणोंने कहा था—

कति नाम सुता न लालिताः कति वा नेह वधूरभुञ्जि हि।
क्व नु ते क्व नु ताः क्व वा वयं भवसङ्गः खलु पान्थसंगमः॥
(शंकर-दिग्वि० ५)

जन्म-जन्मान्तरोंमें कितने पुत्रोंका लालन नहीं किया, कितनी सुन्दर रमणियोंका संस्पर्श नहीं किया, परंतु आज कहाँ वे पुत्रादि, कहाँ वे रमणियाँ, कहाँ हम सब! यह संसारका सङ्गम तो केवल यात्रियोंके सङ्गके समान अस्थिर है। स्थिर सम्बन्ध तो एकमात्र भगवान्‌का ही है, जो कि स्वर्ग, नरक, कहीं भी जीवका साथ नहीं छोड़ते। जीवात्मा और परमात्मा दोनों ही एक शोभन पंखवाले सुपर्ण पक्षी हैं, दोनों सुपर्ण एक जातिके पक्षी हैं, इसलिये भी उन दोनों-का आपसमें मुख्य सम्बन्ध है। साथ ही दोनोंकी परस्पर पूर्ण मैत्री है। परमात्मा पालक सखा है, जीवात्मा बालक सखा है। दोनोंहीकी 'चेतन अमल सहज-सुख रासी'—रूपसे ख्याति भी है। कहीं साजात्य सख्य होनेपर भी दुर्दैवयोगसे भिन्न देश रहनेके कारण सम्बन्ध दुर्बल पड़ने लगता है। परंतु यहाँ तो एक ही शरीररूप वृक्षपर जीवात्मा-परमात्मा दोनों ही पक्षी रहते हैं। अतः साजात्य, सख्य, सादेश्य तीनों तरहके सम्बन्ध दृढ हैं। यद्यपि भगवान् जडवर्गमें सर्वदा असंस्पृष्ट और निर्लिप्त ही रहते हैं, तथापि चिद्रूप जीवात्माके साथ तो उनका तादात्म्य या अभेद सम्बन्ध रहता है। जैसे कभी घटाकाश महाकाशसे वियुक्त नहीं होता, तरंग जलसे पृथक् नहीं होता; घट, शरावादि मृत्तिकासे वियुक्त नहीं होते; कटक, मुकुटादि सुवर्णसे पृथक् नहीं होते, वैसे ही जीवात्मा कभी भी भगवान्‌से पृथक् नहीं होता। इस तरह अपने असली सम्बन्धी भगवान्‌को भूल जानेसे ही प्राणी अनेकानर्थपरिप्लुत भवाटवीमें भटकता है और दुःख पाता है। पर जब कभी भी सावधान होकर वह भगवान्‌की ओर दृष्टि करता है, प्रभु उसपर पूर्ण कृपा करके उसे तत्काल अपना लेते हैं।

आत्माकी वास्तविक पहचान

केसव! कहि न जाइ का कहिये।
देखत तव रचना विचित्र हरि! समुझि मनहिं मन रहिये॥
सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोये मिटइ न मरइ भीति, दुख पाइय एहि तनु हेरे॥
रविकर-नीर बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माहीं।
बदन-हीन सो ग्रसै चराचर, पान करन जे जाहीं॥
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मानै।
तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम, सो आपन पहिचानै॥
(विनय-पत्रिका १११)

परमार्थकी पगडंडियाँ

(नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके अमृत-वचन)

सत्सङ्ग

जिस प्रकार फूलोंके संसर्गसे उनकी गन्ध वस्त्र, जल, तिल और भूमिको सुवासित कर देती है, वैसे ही व्यक्तिके संसर्गसे होनेवाले गुण भी अपना असर करते हैं। विषयासक्त मूढ़ पुरुषोंका समागम मोह-जालकी उत्पत्तिका कारण है और प्रतिदिन साधु-महात्माओंका समागम करना धर्मकी उत्पत्तिका हेतु है। अतएव ज्ञानी महात्माओं, अनुभवी वृद्धों, उत्तम स्वभाववाले तपस्वियों और परम शान्तिको देनेवाले सत्पुरुषोंका ही संसर्ग रखना चाहिये।

कुसङ्ग

मनुष्यके उत्थान और पतनके जितने कारण हैं, उनमें सङ्ग एक प्रधान कारण है। सङ्गके अनुसार ही मनुष्यका मन बनता है और मनके अनुसार ही मनुष्यसे क्रिया होती है एवं क्रियाके अनुसार ही उसका फल मिलता है। अच्छे हृदयका मनुष्य भी नीच सङ्गसे नीच मनवाला होकर गिर जाता है और असदाचारी मनुष्य भी उत्तम सङ्ग पाकर असदाचारसे छूटकर महात्मा बन जाता है। परंतु इतना याद रखना चाहिये कि बुरे सङ्गका प्रभाव साधारण मनुष्यपर जितना शीघ्र और विशेषरूपसे पड़ता है, उतना शीघ्र और उतनी मात्रामें उत्तम सङ्गका प्रभाव नहीं पड़ता। कारण यह है कि मनुष्यकी प्रकृति स्वभावतः अधोगामिनी है, अतएव जैसे जल स्वभावसे ही नीचेकी ओर बहता है, उसी प्रकार प्रकृतिके गुणोंमें स्थित पुरुष भी स्वभावतः पतनकी ओर ही जाता है। अतः कुसङ्गका सर्वथा परित्याग कर दीर्घकालपर्यन्त सत्सङ्गका सेवन करना चाहिये।

सदाचार

श्रुति और स्मृतिमें कथित अपने नित्यकर्मोंके अङ्गभूत, धर्मके मूल सदाचारका सावधानीके साथ अवश्य सेवन करना चाहिये। सदाचारसे मनुष्य आयु, इच्छानुरूप प्रजा और अक्षय धनको प्राप्त करता है। इतना ही नहीं, सदाचारसे अपमृत्यु आदिका भी नाश होता है। जो पुरुष दुराचारी है, उसकी लोकमें निन्दा होती है, वह सदा दुःख भोगता रहता है तथा रोगी और अल्पायु (कम उम्रवाला) भी होता है। इधर विद्यादि सब लक्षणोंसे हीन पुरुष भी यदि सदाचारी, श्रद्धावान् तथा ईर्ष्यारहित होता है तो वह भी पूरे सौ वर्षतक या उससे अधिक भी जीता है।

संतोष

जिस पुरुषको वास्तविक सुखकी चाह हो, उसे भोग-तृष्णाका दमन करके भगवान्‌के विधानानुसार जो कुछ भी सुख-दुःख प्राप्त हो, उसीमें संतुष्ट रहना चाहिये। तृष्णानाशपूर्वक संतोषमें जैसा सुख है, वैसा सुख लोक-परलोकके किसी भी भोगमें नहीं है। शास्त्रोंमें भी कहा गया है—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

(महाभा० शान्ति० २७६। ६)

'सांसारिक भोगोंमें और स्वर्गादिके दिव्य महान् सुखोंमें कोई-सा भी सुख तृष्णाक्षयके सुखके सोलहवें भागके बराबर भी नहीं है।' योगाचार्य श्रीपतञ्जलिने कहा है—

संतोषादनुत्तमसुखलाभः॥ (योगदर्शन, साधनपाद ४२)

'संतोषसे अनुत्तम सुखकी, निरतिशय आनन्दकी प्राप्ति होती है।' संतोषसे नित्य सर्वगत आत्मामें स्थिति होती है और तभी सच्चा और अखण्ड निरतिशय आनन्द मिलता है; क्योंकि अनन्त असीम सनातन

नित्य सर्वगत अचल अविनाशी आनन्द आत्मामें ही है। यह आनन्द ही आत्माका स्वरूप है। इसीसे आत्माराम पुरुषोंको अभावका बोध नहीं होता और वे प्रत्येक स्थितिमें आत्मानन्दमें ही निमग्न रहते हैं। भगवान्‌ने कहा भी है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥
(गीता ३। १७)

'जिसकी आत्मामें रति है, जो आत्मामें ही तृप्त है और आत्मामें ही संतुष्ट है, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है।'

सरलता

आजके जगत्‌में ज्यों-ज्यों इस जडपूजापरायण नवीन सभ्यताका प्रचार बढ़ रहा है, त्यों-ही-त्यों मनुष्योंके जीवनमें कपट और दम्भ भी बढ़ रहे हैं। ऊपरसे सुन्दर-सुहावने बने रहना—अंदर चाहे जितनी बुराइयाँ भरी रहें। 'मन मैला तन ऊजला'—यह आजकी सभ्यताकी एक नीति है। सरल मनका सीधा-सादा व्यवहार आजकल मूर्खता माना जाता है। इसीलिये आजकलका पढ़ा-लिखा नवयुवक अपने सरलहृदय पिताको मूर्ख कहकर उसका अपमान कर सकता है। यद्यपि ऐसी घटनाएँ हमारी प्राचीन सभ्यताके प्रभावसे बहुत कम होती हैं, परंतु इनका आरम्भ हो गया है; यह तो मानना ही पड़ेगा। सरलता शुद्ध हृदयका सुन्दर संकेत है। सरल हृदय ही पवित्र होता है। जो मनुष्य सरलहृदय है, वह अपने पापको प्रकाश करनेमें नहीं हिचकता। हँसी होनेकी कल्पना उसे सत्यसे नहीं डिगा सकती। वह अपनी बुराइयोंको कपटकी चादरतले छिपाना नहीं जानता। जगत्‌को धोखा देकर मिथ्यामान-अर्जन करनेकी कलासे वह अनभिज्ञ होता है। ऐसे मनुष्य जगत्‌के झूठे मान-यशसे और पूजा-प्रतिष्ठासे भले ही वञ्चित रह जायँ, परंतु उनके हृदयमें पापका प्रवेश सहज ही नहीं हो सकता।

सरलहृदयका मनुष्य बुद्धिके अभिमानी धूर्त मनुष्योंकी दृष्टिमें कभी-कभी ठगा जाता हुआ-सा प्रतीत होता है, परंतु वह ठगाकर भी कुछ नहीं ठगाता। परम न्यायकारी और दयालु परमेश्वरके राज्यमें ठगनेवाला धूर्त ही ठगाता है। ठगानेवाला तो सदा लाभमें ही रहता है। सर्वशक्तिमान् भगवान् अपने उस सरलहृदय भक्तके योग-क्षेमको बहुत सुन्दर रूपसे वहन करते हैं। इसलिये वह सब कुछ खोकर भी बदलेमें ऐसी अनुपम वस्तु पाता है, जिसकी तुलना संसारके किसी भी महान्-से-महान् पदार्थसे नहीं हो सकती। अतः सब प्रकार सरल एवं निश्छल होकर भगवान्‌का स्मरण कीजिये। फिर तो सब काम बना-ही-बनाया है। स्वयं श्रीभगवान् कहते हैं—

निर्मल मन जन जो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥
(मानस ५। ४३। ३)

श्रीकृष्ण-कीर्तनका आनन्द

जो सुख होत गोपालहिं गाये।
सो नहिं होत किये जप-तपके, कोटिक तीरथ न्हाये॥
दिये लेत नहिं चारि पदारथ, चरन-कमल चित लाये।
तीनि लोक तृन सम करि लेखत, नँद-नंदन उर आये॥
वंशीवट वृंदावन जमुना, तजि बैकुंठ को जाये।
सूरदास हरिको सुमिरन करि, बहुरि न भव चलि आये॥

साधककी सर्वोच्च स्थिति 'जीवन्मुक्ति'

(लेखक—पं० श्रीवैद्यनाथजी अग्निहोत्री)

प्रत्येक विचारशील व्यक्ति परतन्त्रतासे मुक्ति चाहता है। मुक्तिके स्वरूपमें लोगोंके विचारोंकी विभिन्नता हो सकती है; किंतु चाहते हैं सभी मुक्ति। इस अन्तःकरणकी सच्ची चाहमें कोई अन्तर नहीं। प्रत्येक प्राणी अहर्निश मुक्तिके लिये ही प्रयत्नशील है। कोई क्षुधा-पिपासासे मुक्ति चाहता है, कोई शोक-मोह तथा भयसे मुक्ति चाहता है और कोई जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्तिका इच्छुक है। शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक परतन्त्रताके बन्धनसे भी विचारक मुक्तिकी इच्छा करते हैं। तात्पर्य यह है कि आस्तिक-नास्तिक विचारशील तो मुक्तिके इच्छुक हैं ही, सर्वसाधारण प्राणी भी मुक्तिके प्रयत्नमें तल्लीन हैं। अपने यहाँ आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक—तीनों प्रकारके बन्धनसे मुक्ति-ही वास्तविक मुक्ति मानी गयी है। व्यक्तिकी योग्यताके अनुसार कर्म, उपासना, योग तथा ज्ञान—इन साधनोंको स्वीकार किया गया है। कर्मोपासना तथा योगसे पाँच प्रकारकी मुक्ति प्राप्त होती है—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सार्ष्टि तथा सायुज्य। यह मुक्ति देहत्यागान्तर प्राप्त होती है और अप्राप्तकी प्राप्ति है। ज्ञानद्वारा कैवल्य मुक्ति प्राप्त होती है। यह मुक्ति ज्ञानके समकालमें ही प्राप्त होती है। कैवल्य मुक्ति प्राप्तकी प्राप्ति है। स्वरूपावस्थान ही कैवल्य मुक्ति है और वस्तुतः यही निरपेक्ष मुक्ति है।

ब्रह्मात्मैक्यज्ञानसम्पन्न पुरुष मुक्त होता है और वह इसी जीवनमें मुक्तिका अनुभव करता है, इसीलिये उसे 'जीवन्मुक्त' कहा जाता है। जैसे सूर्योदय होनेपर अन्धकार विनष्ट हो जाता है, वैसे ही ज्ञानोदय होनेपर अज्ञान तथा अज्ञान-कार्य भी विनष्ट हो जाते हैं। इसपर कुछ लोग शङ्का करते हैं—'अज्ञानद्वारा समस्त शुभाशुभ कर्म होते हैं और शुभाशुभ कर्मोंके भोगार्थ शरीर मिलता है। यदि ज्ञानसे अज्ञान तथा अज्ञान-कार्य विनष्ट हो गया तो शरीर भी विनष्ट हो जाना चाहिये।' इसका समाधान यह है कि कर्मकी तीन श्रेणियाँ हैं—संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। ज्ञानसे संचित तथा आगामी कर्म समूल नष्ट हो जाते हैं; किंतु प्रारब्ध कर्म भोगसे नष्ट होता है। संचित कर्मोंसे जो कर्म पृथक् होकर फलोन्मुख हो जाते हैं, उन्हें ही प्रारब्ध कहा जाता है। जैसे यवादिको बीज और अङ्कुरित यवको अङ्कुर कहा जाता है, वैसे ही फलोन्मुख कर्मको 'प्रारब्ध' कहा जाता है। जैसे अङ्कुरित यवको बीज नहीं कह सकते, वैसे ही प्रारब्धको भी कर्म नहीं कहा जा सकता। इसलिये प्रारब्धातिरिक्त सभी कर्म ज्ञानसे विनष्ट हो जाते हैं। प्रारब्ध-पर्यन्त शरीरकी स्थिति रहती है। जिन राग-द्वेषात्मक संस्कारोंसे शरीर प्राप्त हुआ है, उनके अनुसार ही ज्ञानीका आचरण होता है। सुरेश्वराचार्यका कथन है—

मुक्तस्य व्यवहारस्तु भ्रान्तिवासनया कृतः।
भ्रान्तिनाशेऽपि संस्कारानुवृत्तिर्दृश्यते खलु॥
वासनामात्रसंज्ञा तु देहे सति न वार्यते।
वस्तुत्वभ्रान्तिसंज्ञैव प्रबुद्धस्यात्र वार्यते॥

(बृह० वार्तिकसार २। ४। १७७)

मुक्त पुरुषका व्यवहार भ्रान्तिवासनाद्वारा होता है, यद्यपि भ्रान्ति नष्ट हो जाती है, फिर भी भ्रान्तिके संस्कारोंकी अनुवृत्ति उसमें देखी जाती है। शरीरके विद्यमान रहनेपर वासनामात्रका निवारण नहीं हो सकता। हाँ, ज्ञानीकी वस्तुत्वभ्रान्तिसंज्ञाका निवारण होता है। जैसे रज्जुसर्प-भ्रमका निवारण रज्जु-दर्शनसे हो जाता है; किंतु रज्जुसर्पके संस्कारकी पुनः अनुवृत्तिसम्भावना रहती ही है, वैसे ही अज्ञानजनित देह-गेहादि-भ्रम समूल ज्ञानसे निवृत्त हो जाते हैं; किंतु पूर्व-संस्कारानुसार व्यवहारमें उनकी अनुवृत्ति होती ही है। जैसे रज्जु-दर्शन हो जानेपर रज्जुसर्पकी अनुवृत्ति होती रहे, किंतु कम्पादिजनक वैसा भय नहीं होता। वैसे ही ब्रह्मात्मदर्शन होनेपर जगत्‌की प्रतीति होती भी रहे, तो भी कोई अनिष्ट नहीं। दग्ध रज्जुके समान संसार निस्तत्त्व हो जाता है। बाधितानुवृत्तिसे अथवा सर्वात्मस्वरूपसे ज्ञानीकी समस्त क्रियाएँ होती हैं।

जीवन्मुक्तिमें वासनाक्षय परमावश्यक है; क्योंकि वासना विद्यमान रहनेपर जीवन्मुक्तिका पूर्ण आनन्द प्राप्त न होगा। वासनाओंके कारण प्रायः मन शब्दादि विषयोंका चिन्तन करता रहेगा, इससे आत्मस्वरूपमें स्थिति नहीं होगी। आत्मज्ञान होनेपर मृत्युके उपरान्त विदेहमुक्ति तो प्राप्त होगी, किंतु वासना-क्षय और मनोनाश न होनेसे जीवन्मुक्तिका होना सम्भव नहीं। यदि जीवन्मुक्ति प्राप्त न हुई तो परम

पुरुषार्थके आनन्दसे वञ्चित ही रहना पड़ेगा, क्योंकि आत्म-ज्ञानका फल मोक्ष तो होगा, किंतु दृष्ट दुःखोंकी निवृत्ति न होगी—

मोक्षो विनिश्चितः किंतु दृष्टदुःखं न नश्यति
(पञ्चदशी, चित्र० २०४)

अतः आत्मज्ञानीको जीवन्मुक्तिके सिद्धयर्थ वासना-क्षय और मनोनाशका युगपत् प्रयत्न करना चाहिये। जैसे धन-प्राप्तिके लिये व्यापार, अन्नके लिये कृषिकर्म, विद्याके लिये शास्त्राध्ययन और स्वर्ग-प्राप्तिके लिये यज्ञादि कर्म अवश्य कर्तव्य हैं, वैसे ही जीवन्मुक्तिके लिये भी शास्त्रोक्त प्रयत्न अवश्य कर्तव्य हैं।

यदि कोई कहे—'हम तो विदेहमुक्तिसे ही कृतकृत्य हैं, हमें जीवन्मुक्तिकी क्या आवश्यकता ?' तो यह कथन सर्वथा अनुचित है; क्योंकि फिर विदेहमुक्तिकी उपेक्षा कर स्वर्गलोकमें ही संतोष मानने लगेंगे। तदनन्तर स्वर्गकी भी उपेक्षा कर विषय-सुखको ही पर्याप्त स्वीकार करने लगेंगे। जीवन्मुक्तिका सुख साधारण नहीं है। इसे प्राप्त करनेके लिये ही ब्रह्मने जन्म धारण किया है। शास्त्रज्ञ पुरुषोंका कथन है—

जीवन्मुक्तिसुखप्राप्त्यै स्वीकृतं जन्म लीलया।
आत्मना नित्यमुक्तेन न तु संसारकाम्यया॥
यदि न स्यादविद्याख्यमिदं कपटनाटकम्।
कथं लभेत विश्वात्मा जीवन्मुक्तिमहोत्सवम्॥
अद्वैतं न सदेहेऽस्ति विदेहे द्वैतमस्ति न।
जीवन्मुक्तस्य नान्यस्य द्वैताद्वैतमहोत्सवः॥
(बोधसार० जीवन्मु० ३-५)

'जीवन्मुक्तिका सुख भोगनेके लिये ही नित्यमुक्त आत्माने लीलासे जन्म स्वीकार किया है, संसारके क्षुद्र सुखोंके लिये कदापि नहीं। यदि यह अविद्यासंज्ञक कपट-नाटक न होता तो विश्वात्मा जीवन्मुक्तिके महोत्सवको कैसे प्राप्त करता ? सदेह होनेपर अद्वैत नहीं है और विदेहमें द्वैत नहीं है, किंतु जीवन्मुक्तको द्वैताद्वैत-महोत्सव मिलता है, अन्यको नहीं।' सदेह— देहाध्यासमें विदेहता—आत्मज्ञान नहीं और विदेहमें सदेहता नहीं, किंतु जीवन्मुक्तमें सदेहता तथा विदेहता दोनों होती है। इसलिये जीवन्मुक्ति ईश्वरकी लीला है, यह जीवन्मुक्ति ईश्वरस्वरूपिणी है, जीवन्मुक्तिसे ही विदेहमुक्तिका सम्प्रदाय प्रारम्भ हुआ है।

तस्मादीश्वरलीलेयं काचिदीश्वररूपिणी।
जीवन्मुक्तिर्महामुक्तेः सम्प्रदायप्रवर्तिनी॥
(बोधसार, जीवन्मु० १२)

'योगवासिष्ठ' में भी कहा है—

ब्रह्मात्मा वेत्ति नो सर्गं सर्गात्मा ब्रह्म वेत्ति नो।
सुषुप्तो वेत्ति नो स्वप्नं स्वप्नस्थो न सुषुप्तकम्॥
प्रबुद्धो ब्रह्मजगतोर्जाग्रत्स्वप्नदृशोरिव।
रूपं जानाति भारूपं जीवन्मुक्तः प्रशान्तधीः॥
(योगवा० नि० प्र० ४० । ७-१०)

'जैसे सुप्त पुरुष स्वप्नको नहीं जानता और स्वप्नस्थ सुषुप्तिको नहीं जानता, वैसे ही ब्रह्मात्मा सृष्टिको नहीं जानता और सर्गात्मा ब्रह्मको नहीं जानता, किंतु जाग्रत् तथा स्वप्नके द्रष्टाके समान तत्त्वज्ञानी, प्रशान्तचित्त जीवन्मुक्त पुरुष ब्रह्मके प्रकाशस्वरूप और जगद्रूप दोनोंको जानता है।' इस प्रकार जीवन्मुक्ति साधारण स्थिति नहीं है। जीवन्मुक्तिको त्यागकर विदेहमुक्तिमें संतोष करना तो मानो चिन्तामणिको त्यागकर काचको स्वीकार कर लेना है।

जीवन्मुक्तिका आनन्द विलक्षण है। ज्ञान-रक्षा, तप, विवादाभाव, दुःखनिवृत्ति और आनन्दाविर्भाव भी जीवन्मुक्तिसे सिद्ध होते हैं। जबतक चित्त शान्त नहीं होता, तबतक 'जीव, जगत् तथा ब्रह्म क्या है और इनका परस्पर क्या सम्बन्ध है ?'—आदि अनेक कल्पनाएँ होती हैं। इनसे संशय तथा विपर्यय होना स्वाभाविक है। जीवन्मुक्तमें सभी कल्पनाएँ शान्त हो जाती हैं, इससे ज्ञान सुरक्षित रहता है। वासना-शून्य होनेसे मन शान्त हो जाता है और वह स्व-स्वरूपाधिष्ठानमें प्रतिष्ठित हो जाता है। मनकी यह एकाग्रता ही 'तप' है। ज्ञान-भूमिकामें उत्तरोत्तर गमन करना भी तप है और स्वरूपमें स्थित रहते हुए समस्त कर्म करना भी तप ही है। सर्वात्म-दृष्टि-सम्पन्न ज्ञानी न किसीकी निन्दा करता है, न विवाद। इसीसे 'विवादाभाव' है। दुःखलेशमात्र न होनेसे 'दुःखनिवृत्ति' स्वतः प्राप्त है, क्योंकि—

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥
(बृहदा० उप० ४ । ४ । १२)

'यदि कोई आत्माको जान ले कि 'यह पुरुष मैं हूँ' तो वह किस इच्छासे और किसकी कामनासे शरीरको संतप्त करे ?', इसीसे उसे निरङ्कुशा तृप्ति होती है और पुनः दुःखानुभूति

नहीं होती। आनन्दका स्रोत आत्मा है। इतना ही नहीं, चतुर्दिक् आनन्दार्णवका साम्राज्य है—ऐसी दृष्टिसे सम्पन्न ज्ञानी पुरुषमें 'आनन्दाविर्भाव' होना स्वाभाविक है। उसकी दृष्टिमें विषयानन्द, विद्यानन्द, ब्रह्मानन्द, आत्मानन्द, अद्वैतानन्दादिका भेद नहीं रहता। एकमात्र पूर्णानन्दार्णवस्वरूप होकर वह आनन्दार्णवमें ही निमग्न रहता है, अतः जीवन्मुक्तिके लिये ही प्रयत्न कर्तव्य है और वह वासना-क्षय, मनोनाश और तत्त्वज्ञानके द्वारा सर्वथा सुसाध्य है।

गायत्री और सूर्य

(लेखक—वेदाचार्य पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा, गौड़)

द्विजातिके लिये संध्योपासन नित्य और आवश्यक कर्तव्य कहा गया है। संध्योपासनको 'ब्रह्मोपासन' भी कहा जाता है; क्योंकि संध्योपासनमें साक्षात् ब्रह्मकी उपासना होती है। अतएव श्रुतिमें कहा गया है—

'यः संध्यामुपासते ब्रह्मैव तदुपासते।'

अर्थात् 'जो संध्योपासन करता है, वह ब्रह्मकी ही उपासना करता है।' इसीलिये गायत्रीको भी 'ब्रह्मगायत्री' कहते हैं। वह ब्रह्म ही प्रतीकरूपमें 'आदित्य' है—

'आदित्यो ब्रह्म।' (छान्दोग्योपनिषद् ३ । १९ । १)

'असौ यः स आदित्यः।' (शतपथ ब्रा० ५० । ५ । १४, १४ । १ । १ । ६)

'असावादित्यो ब्रह्म।' (तैत्तिरीयारण्यक २ । २)

संध्योपासनमें गायत्रीका जप और सूर्योपासना प्रधान हैं। इसीलिये संध्योपासनमें ब्रह्म-गायत्रीका जप और सूर्यकी उपासना विशेषरूपसे की जाती है। संध्योपासनमें गायत्रीका जो जप किया जाता है, वह भगवान् सूर्य (ब्रह्म)की ही उपासना है। गायत्री-मन्त्र सूर्यदेव (सविता)को उद्देश्य करके ही प्रवृत्त हुआ है। अतः गायत्री-मन्त्रके द्वारा सूर्य (ब्रह्म)की उपासना की जाती है।

गायत्रीका आध्यात्मिक अर्थ परमात्मा है और आधिदैविक अर्थ है सूर्य। 'षू प्रेरणे' (धातुपाठ ६।१२४) और 'षूङ् प्राणि-प्रसवे' (धातुपाठ ४ । २४)के अनुसार विश्वको जन्म देनेवाला तथा प्रेरक परमात्मा सविता* है, जो कि परमात्मा है। इसलिये गायत्री-मन्त्र प्रधानतः परमात्मपरक है। गायत्री-मन्त्रमें सूर्यके रूपमें परब्रह्म परमेश्वरकी ही उपासना बतलायी गयी है। अतः सूर्य परब्रह्म परमेश्वरके ही प्रतीक हैं और उन्हींकी विभूति हैं।

गायत्री-मन्त्रमें कहे गये 'सवितुः' पदसे सूर्यका ही ग्रहण होता है। अतः सूर्य सविताका ही पर्यायवाची शब्द है।

'असौ वा आदित्यो देवः सविता।'

(शतपथ ब्रा० ६ । ३ । १ । २०)

'आदित्योऽपि सवितैवोच्यते।'

(निरुक्त, दैवतकाण्ड ४ । ३१)

---

* 'प्रजानां च प्रसवनात् सवितेत्यभिधीयते।' (विष्णुधर्मोत्तरपुराण)

'प्रजाओंकी उत्पत्ति करनेके कारण विद्वान् पुरुष उसे सविता कहते हैं।'

सविता सर्वभावानां सर्वभावांश्च सूयते ॥ सवनात् प्रेरणाच्चैव सविता तेन चोच्यते ॥

(बृहद्योगियाज्ञवल्क्य-स्मृति ९ । ५५-५६)

'समस्त प्राणियोंके सभी भावोंको उत्पन्न करनेसे, यज्ञस्वरूप होनेसे और बुद्धिके प्रवर्तक होनेसे वे 'सविता' कहे जाते हैं।'

गायत्री सविताकी शक्ति है। सविताकी शक्ति ही 'गायत्री'के नामसे प्रसिद्ध है और वह इसी शक्तिकी उपासनाके लिये देवीरूपमें कल्पित कर ली गयी है।

गायत्री सूर्यकी शक्तिसे अनुप्राणित है। अतः गायत्रीका ध्यान करनेसे सूर्यका स्वरूप प्रकट हो जाता है और सूर्यका ध्यान करनेसे गायत्रीका स्वरूप प्रकट हो जाता है। अतः गायत्री और सूर्यका परस्पर अभिन्न सम्बन्ध है, जो वाच्य-वाचकरूपसे निर्दिष्ट है--

वाच्यवाचकसम्बन्धो गायत्र्याः सवितुर्द्वयोः।
वाच्योऽसौ सविता साक्षाद् गायत्री वाचिका परा॥

(स्कन्दपुराण, काशीखण्ड, पूर्वार्ध ९ । ५४)

'सूर्य और गायत्रीका परस्पर वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। सूर्य तो गायत्रीके साक्षात् वाच्य हैं और गायत्री उन सविताकी वाचिका है।'

गायत्रीमन्त्रतोयाढ्यं दत्तं येनाञ्जलित्रयम्।
काले सवित्रे किं न स्यात्तेन दत्तं जगत्त्रयम्॥

(स्कन्दपुराण ४ । ९ । ४६)

'गायत्री मन्त्रद्वारा जलको अभिमन्त्रित कर जिसने भगवान् सूर्यको यथा-समय तीन अञ्जलियाँ अर्पित कीं, उसने तीनों लोकोंको भला क्या नहीं दे दिया।'

तां देवीमुपतिष्ठन्ते ब्राह्मणा ये जितेन्द्रियाः।
सूर्यलोकं ते प्रयान्ति क्रमान्मुक्तिं च पार्थिव॥

(पद्मपुराण)

'जो ब्राह्मण जितेन्द्रिय होकर गायत्री देवीकी उपासना करते हैं, वे सूर्यलोकमें जाते हैं। और हे राजन्! इस प्रकार क्रमसे वे मुक्तिको प्राप्त करते हैं।'

अन्य लोग—'**ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः सरसिजासनसंनिविष्टः**',से सूर्यमण्डलमें भी नारायण या परब्रह्मको ही ब्रह्म-गायत्रीका परम उपास्य तत्त्व मानते हैं।

सुतरां प्रत्येक द्विजको गायत्री और सूर्यकी उपासना अवश्य करनी चाहिये। जो द्विज गायत्री और सूर्यकी प्रतिदिन उपासना करते हैं, वे इस लोकमें अभ्युदय (सांसारिक उन्नति) और परलोकमें निःश्रेयस (मुक्ति)को प्राप्त करते हैं।*

देवताओंके अस्त्र कैसे बने ?

भगवान् सूर्यका तेज अपार था। विश्वकर्माकी पुत्री 'संज्ञा' देवी इनकी पत्नी थीं। वे उनका तेज सहन न कर पायीं और उत्तर कुरुमें जाकर तप करने लगीं। सूर्यदेव उन्हें खोजते हुए विश्वकर्माके घर पहुँचे। फिर सारी बात जानकर उन्होंने अपना तेज कम करनेके लिये त्वष्टा (विश्वकर्मा)से कहा। उन्होंने सूर्य भगवान्‌को अपनी खरादपर चढ़ाकर उनका अधिकांश तेज छाँट दिया और फिर उसीसे विष्णुका चक्र, शिवका त्रिशूल, दुर्गाका धनुष-बाण और स्कन्दकी शक्ति आदि अस्त्र बनाये तथा यथासमय उन्हें प्रदान किये। (पद्मपुराण)

* इस विषयमें विशेष जानकारीके लिये गीताप्रेससे प्रकाशित 'संध्या'-नामकी पुस्तिकाका अवलोकन करना चाहिये।

मूर्तिपूजाका आध्यात्मिक रहस्य

(लेखक—श्रीमदनमोहनजी पाटवा, एम्० ए० (द्वय), बी० एड्०, साहित्यरत्न)

सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, सर्वसमर्थ, सर्वान्तर्यामी, गुणातीत, निर्गुण, निराकार, अविनाशी, अजन्मा, अचिन्त्य, अविकारी, अव्यक्त, परब्रह्म, जो मन-बुद्धि, चित्त-अहंकार, इन्द्रियों आदिका विषय नहीं; अर्थात् मन जिसके विषयमें कल्पना नहीं कर सकता, चित्त जिसका चिन्तन नहीं कर सकता, बुद्धि जिसके विषयमें तर्क-वितर्क नहीं कर सकती, वह परब्रह्म भी भक्तोंकी प्रेमनिष्ठा—भक्ति-भावनाके कारण सगुण-साकाररूपमें प्रकट हो जाता है—

अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥

(रामचरितमानस)

वैसे तो ईश्वरके सर्वव्यापक होनेसे ही यह सिद्ध है कि जड़-चेतन अखिल सृष्टिके अणु-अणुमें वही स्थित है, फिर तो मूर्तिमें भी उसके अतिरिक्त और है ही क्या ! जब हमलोग परमेश्वरको सर्वसमर्थ मानते हैं, तो यह कैसे कह सकते हैं कि साकार रूप धारण करना उसकी सामर्थ्यके बाहर है। जब अनन्त रूप उसीके हैं, तो सारी मूर्तियाँ भी तो उसीकी प्रतिकृतियाँ हैं। वस्तुतः वह असीम, अपार और अप्रमेय है। उसको किसी सीमा या परिस्थितिमें बाँधना भूल ही है। जो साधक मूर्तिमें उसको मानकर मन्दिरके बाहर उसकी व्यापकता या सर्वत्र-सत्ताको स्वीकार नहीं करते या जो भाई अपने आपको ज्ञानी मानकर उस परमात्माके निराकार और अव्यक्त रूपकी घोषणा करते हुए उस प्रभुके सुन्दर, सगुण, साकार विग्रहकी अवहेलना करते हैं; वस्तुतः वे दोनों ही उस प्रभुकी सर्वव्यापकता और सर्वसमर्थतामें अविश्वास ही व्यक्त करते हैं। हिन्दू-संस्कृति तो ईश्वरके पूर्णत्वको स्वीकार करती है। हमारी संस्कृतिके अनुसार तो वह साकार भी है और निराकार भी। वह सगुण है; क्योंकि समस्त भूत और त्रिगुणात्मिका प्रकृति उसीके गुणोंसे ओत-प्रोत है और वह निर्गुण भी है; क्योंकि उसीसे सब गुण निकले हैं। परंतु फिर भी वह उनसे निर्लेप है। वह अव्यक्त है, क्योंकि वह कहीं भी दिखायी नहीं देता और वह व्यक्त भी है, क्योंकि सभी रूप उसके ही तो हैं। वह एक है; क्योंकि उसके सिवा और कुछ है नहीं। वह अनेक है, क्योंकि अनन्त और असंख्य मूर्तियाँ उसीकी हैं। इसीलिये श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं
न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्नाः॥

(श्रीमद्भा० १० । १६ । ३७)

अतः यह मानना पड़ेगा कि इस प्रकार मन-बुद्धि, चित्त एवं सभी इन्द्रियोंको मूर्तिके रूपमें एक आधार मिल जाता है और साधककी संसारासक्त वृत्तियोंको ईश्वरोन्मुख करनेमें कोई बाधा या कठिनाई नहीं होती। विषयवारिमें लीन मन-मीनको प्रभु अपनी कृपारूपी डोरीसे प्रेमरूपी चारेके द्वारा बाँधकर बाहर खींच लेते हैं। इधर दूसरी ओर अव्यक्त, अगोचर, मन-बुद्धि-चित्त आदिके परे निर्गुण निराकार ब्रह्ममें जब यह देहाभिमानी जीव मन लगानेका प्रयास करता है, तो नाना प्रकारकी इच्छाओंका कोलाहल, वासनाओंका उत्पात, स्वार्थोंका संघर्ष और राग-द्वेषके तूफानी थपेड़े उसके साधनारूढ़ मनको बार-बार व्यथित करने लगते हैं। जन्म-जन्मान्तरके पाप-संस्कार उसके मनको अशान्त कर देते हैं और रूप-आकारहीन ब्रह्ममें आधार न पाकर मन भटक करके साधकको साधना छोड़नेके लिये विवश कर देता है। भगवती गीताके शब्दोंमें—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

(गीता १२ । ५)

देहाभिमानी अव्यक्त उपासकोंको क्लेश-ही-क्लेश मिलता है, अतः साधनारूढ़ साधकके लिये मूर्तिका आधार लेना बड़ा ही लाभप्रद होता है।

मूर्तियोंसे प्रेरणा

मूर्तिपूजामें इस मनोवैज्ञानिकताके साथ एक और बात यह है कि हमारे देवी-देवताओं एवं अवतारोंकी मूर्तियाँ उन गूढ़ तत्त्वोंको स्पष्ट करती हैं, जिन्हें बड़े-बड़े ग्रन्थोंमें समझानेका प्रयास किया गया है। जिस भगवान् श्रीकृष्णके माधुर्यमें सौन्दर्य एवं ब्रह्मत्वका प्रतिपादन करनेके लिये श्रीमद्भागवत, ब्रह्मवैवर्तपुराण, महाभारतादि अनेक ग्रन्थ भर दिये गये हैं, वही ब्रह्मका माधुर्य, सौन्दर्य-तत्त्व नटनागर रसिक-शेखर बाँकेबिहारी श्यामसुन्दरकी मूर्तिमें साकार हो उठा है। इसी

प्रकार शिवपुराणमें प्रतिपादित शिवतत्त्वको चन्द्रमौलि, भुजङ्ग-भूषण, गङ्गाधर, आशुतोष, अवढरदानी, भोलेनाथ महादेवकी मूर्तिमें साकार कर दिया गया है। वस्तुतः हम हिन्दू चित्रके रूपमें चरित्रकी पूजा करते हैं। भारतीय देवी-देवताओंके चित्र हमें अपने जीवनको सौन्दर्यमय, माधुर्यमय, आनन्दमय, आदर्शमय, त्यागमय और मर्यादामय बनानेकी प्रेरणा देते हैं।

शेषनागकी शय्यापर शयन करनेवाले कमलाकान्त, कमलनयन सजल जलधरसदृश श्यामवर्ण भगवान् नारायण शान्ताकार रूपमें हमें संसारमें रहते हुए भी संसाररूपी भुजङ्गके विषय-वासनारूप विषसे निर्लिप्त रहनेकी प्रेरणा दे रहे हैं। इसी प्रकार सागरसे निकले विष (दोष)को गलेके नीचे दबाकर और चन्द्रमा (गुण)को मस्तकपर धारणकर चन्द्रमौलि गङ्गाधर नीलकण्ठ भगवान् शंकरकी मूर्ति हमें यह शिक्षा देती है कि दूसरोंके दोषोंको गलेके नीचे रखो, उसे कभी वाणीपर मत लाओ, परंतु दूसरोंके गुणोंको सर्वत्र प्रकट करो। संसारकी दृष्टिमें निकृष्टतम जीव—सर्पोंको गलेका हार बनाकर, संसार-द्वारा सर्वथा त्याज्य श्मशानकी भस्मको शरीरपर रमाकर एवं आक-धतूरे जैसी उपेक्षणीय वनस्पतियोंको अपनी भोग-सामग्री बनाकर देवाधिदेव महादेव हमें व्यथित और दलित प्राणिवर्गसे प्रेम करनेकी सुन्दर शिक्षा दे रहे हैं।

इसी प्रकार राक्षसराजको पैरोंके नीचे दबाती हुई दशभुजा मा दुर्गा दसों दिशाओंमें अन्याय, अनीति और पापका उन्मूलन करती हुई जीवमात्रको अपने मनरूपी राक्षसको कुचलने और दसों इन्द्रियोंके विकारोंपर विजय पानेकी शक्ति प्रदान करती है।

आदर्श-स्वरूप लोकरञ्जन लोकरक्षक मर्यादापुरुषोत्तम धनुर्धर भगवान् राघवेन्द्रका चित्र देखते ही हमें सुख-दुःखमें समस्थिति, पर्वततुल्य धीरता, सागरसम गम्भीरता, आदर्श पितृभक्ति, आदर्श भ्रातृप्रेम, आदर्श प्रजा-पालन आदिकी सुन्दर प्रेरणा मिलती है। साथ-ही-साथ हमें अन्याय, अनीति, अनाचार और असत्यके विरुद्ध सतत संघर्ष करनेका नवीन उत्साह मिलता है।

आनन्दकन्द मधुराधिपति सौन्दर्यसागर नटनागर श्यामसुन्दरके कोटिकन्दर्पदर्प-मर्दन सुन्दर रूपको जब हम देखते हैं, तो उनके पूर्णेन्दु-सदृश मुखमण्डल, उन्मुक्त हास्य-पूर्ण चितवन, प्रफुल्लित कमलसदृश मनोमुग्धकारी नेत्र, भ्रमरके समान काली घुँघराली अलकों, सजल वारिदसदृश सुन्दरश्यामवपु, बिम्बफल-सदृश अधर तथा उन्मीलित कमलदलतुल्य चरणोंकी अंगुलियों एवं अज्ञानान्धकारका विदीर्ण करनेवाली नखमणि-ज्योत्स्नामें हम सारे संसारको भूलकर उन प्रियतमकी मनोहारी छटापर सब कुछ लुटा देनेके लिये विवश हो जाते हैं। इस रूपमाधुरीने न केवल संसारविषयासक्त हिन्दुओंको ही सूरदास, नन्ददास-जैसा परम वैष्णव बनाया, अपितु रहीम, रसखान-जैसे मुसलमानोंने भी जब इस प्यारेकी मूर्ति देखी, तो वे भाव-विभोर होकर जाति एवं साम्प्रदायिकताकी दीवारें तोड़कर उसके स्वरूपमें एकाकार हो गये।

इस प्रकार ये मूर्तियाँ हमें अपार शान्ति, अलौकिक आनन्द, सत्यनिष्ठा, सुन्दर प्रेरणा और जीवनयापनके लिये सही मार्ग प्रदान करती हैं। अतः मूर्तिपूजा न केवल भगवत्प्राप्ति और अध्यात्मपथारूढ़ होनेके लिये सुगम और सही साधन है, अपितु इस लोकको सुन्दर बनाने तथा विश्वकी वृत्तियोंका शुद्ध करनेके लिये भी अमोघ उपाय है।

ईश्वरका दरबार

(रचयिता—साहित्यरत्न श्रीश्यामनारायणजी पाण्डेय 'श्याम')

नभका सदैव शामियाना रहता है तना,
फरस महीका है वसन्तकी बहार है।
सूर्य, चन्द्रमाकी जलती है ज्योति दोनों ओर,
सुन्दर दिशाओंका हरेक खुला द्वार है॥
झरने फुहारे बने, तारे बने फूल-फल,
पंखा मलयाचलकी झलती बयार है।
न्याय करनेके लिये बैठते कहाँ हो तुम,
कितना मनोहर तुम्हारा दरबार है॥

भगवदवतारका प्रयोजन

(लेखक—श्रीरामलखनलालजी खरे)

भगवान्‌के जितने भी अवतार होते हैं, उन सबमें प्रायः अपने भक्तोंका मनोरञ्जन करना ही मुख्य ध्येय होता है। यदि केवल दुष्टोंका दमन करना ही उनका लक्ष्य होता तो अपनी इच्छाशक्ति या ऐश्वर्यशक्तिसे भी वे वैसा कर सकते थे, अवतार ग्रहण आवश्यक नहीं होता; किंतु भगवान् भक्त-परवश हैं—

सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ। निज अपराध रिसाहिं न काऊ॥
जो अपराधु भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई॥
(मानस २। २१७। २-३)

इससे वे अवतार लेकर भक्तोंके मनकी अभिलाषा पूर्ण करते हैं—भक्तिपथको प्रशस्त करते हैं।

त्रेतायुगमें मर्यादापुरुषोत्तम रामने जब अवतार धारण किया तो उनकी अपार रूप-माधुरीको देखकर मिथिला और अवधपुरकी स्त्रियाँ मोहित हो गयीं। जिनका मातृवत् अनुराग था, वे अपने रामको पुत्र मानकर ही आदर करने लगीं। महाराज रघुराजसिंहजू देव, जो पूर्व रीवाँनरेश थे तथा साथ ही महान् कवि एवं भक्त थे, मिथिलापुरवासी स्त्रियोंको लक्ष्यकर लिखते हैं—

अनब्याही ब्याही चहैं, ब्याही मीजैं हाथ।
गौने की मौने रहीं, देखि-देखि रघुनाथ॥

इसके अतिरिक्त श्रीराघवेन्द्र सरकार जब पथिक-वेषमें दण्डकारण्यमें पदार्पण करते हैं तो उनका वह भी रूप बहुत ही लुभावना लगता है। वहाँके ऋषि-मुनि भी जब उनके इस स्वरूपका दर्शन करते हैं तो उन्हें पति-रूपमें चाहने लगते हैं।

अबला बालक बृद्ध जन कर मीजहिं पछिताहिं।
होहिं प्रेमबस लोग इमि राम जहाँ जहँ जाहिं॥
(मानस २। १२१)

और तो और, शूर्पणखाके साथ खर-दूषणतक मुग्ध होकर कहने लगते हैं—

नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे जिते हते हम केते॥
हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुंदरताई॥
(मानस ३। १८। २)

किमधिकम्—बिच्छू-सर्प भी इन्हें देखकर साधु-स्वभावके हो जाते हैं।

जिन्हहि निरखि मग साँपिनि बीछी।
तजहिं बिषम बिषु तामस तीछी॥
(मानस २। २६१। ८)

इसी प्रकार द्वापरमें भगवान् श्रीकृष्णने नन्द-यशोदाको वात्सल्य-रसका पान कराया। संसारको बाँधने-वाले ब्रह्मा, शंकर जिसका पार नहीं पा सकते तथा चारों वेद जिसको 'नेति'-'नेति' कहकर पुकारते हैं, वही पूर्ण ब्रह्म परमात्मा ब्रजमें अवतार ग्रहणकर माता यशोदाद्वारा बाँधा जाता है—

जिन बाँधे सुर-असुर, नाग-नर, प्रबल करम की डोरी।
सोइ अबिच्छिन्न ब्रह्म जसुमति हठि बाँध्यो सकत न छोरी॥
(विनयपत्रिका ९८। २)

गोपियाँ भी उन्हें थोड़ेसे छाछपर नाच नचाती हैं—

'ताहि अहीर की छोहरियाँ
छछिया भर छाछ पै नाच नचावैं॥'

प्रेम-भक्तिका अनुपम उदाहरण गोपियोंने प्रस्तुत किया। ब्रजभूमि तथा उसकी रज इतनी पवित्र है, जिसको ब्रह्मा-शंकर-इन्द्र-प्रभृति महान् देवताओंने अपनाया है। उद्धवजी जब भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञासे उनको शिक्षा देने गये, तब गोपियोंने यही कहा—

एक ही अनंग साधि-साधि सब बौरे भई,
दूजो अंग रहित अराध करिहैं कहा?

अन्तमें उन सबने उद्धवजीको भक्ति-रसमें सराबोर ही कर दिया।

कहा जाता है कि ब्रजमें गोपियाँ अपने मनको भगवान् श्रीकृष्णकी ओरसे जब बरबस हटाती थीं, तभी

कुछ गृहकार्य करनेमें समर्थ होती थीं; जब कि बड़े-बड़े योगी अपने मनको भगवान्की ओर एकाग्र करनेके लिये प्रयत्न करनेपर भी बहुत कम सफल हो पाते हैं।

एक बार नारदजी वीणा बजाते हुए यमुना-तटपर पधारे। वहाँ वे देखते क्या हैं कि एक गोपी आसन लगाये ध्यानमुद्रामें बैठी है। उसका घड़ा एक ओर लुढ़का पड़ा है, जल भरनेकी उसे कोई सुध-बुध नहीं है। नारदजीने जोरसे आवाज लगायी—

श्रीकृष्ण ! गोविन्द ! हरे मुरारे !
हे नाथ ! नारायण वासुदेव !

गोपीके नेत्र खुल गये। उसने नतमस्तक होकर नारदजीको प्रणाम किया। नारदजीने पूछा—'तू किसका ध्यान कर रही है? भगवान् श्रीकृष्ण तो तुम्हें नन्दभवनमें ही मिल सकते हैं, फिर यहाँ उनका ध्यान क्यों कर रही है? वे तो यहाँ किसीको दुर्लभ नहीं हैं।' गोपी बोली—'नारदजी! उसका नाम मत लीजिये, वह तो आज सुबहसे मेरे मनमन्दिरमें आ-आकर तंग कर रहा है। सुबह घर बुहारने चली तो लगा कि वह सामने खड़ा मुस्करा रहा है। गाय दुहने बैठी तो कहने लगा कि मेरे मुँहमें दुह दे। मैंने दुह दिया। फिर देखा कि दूध भूमिपर गिर गया है। धान कूटने बैठी तो लगा कि किसीने मूसल पकड़ लिया है। देखा तो कोई नहीं। सोच-विचार कर पाया कि इसमें श्रीकृष्णका दोष नहीं है, मेरे मनका ही दोष है। इसलिये मैं पानी लेने चल पड़ी। वहाँ भी ऐसा लगा कि वह मेरा घड़ा पकड़कर खींच रहा है, यद्यपि वह वहाँ नहीं था। मैंने विचार किया कि अपने मनको उससे हटा लूँ, जिससे घरके काम-काज ठीकसे कर सकूँ, पर वह नटखट मेरे मनसे दूर ही नहीं होता।' अस्तु! भागवतमें कहा ही गया है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥
(१०।४४।१५)

इसी प्रकार कहीं तो कोई गोपी खाली भाँड़में मथनीसे दही मथती मक्खन निकालती है; कहीं प्रेम-परवश होकर कृष्ण भी गायकी जगह बैलको दुहकर संतोष करते हैं—

'राधा पुनातु जगदच्युतदत्तचित्ता मन्थानमाकलयती दधिरिक्तपात्रे।…देवोऽपि दोहनधिया वृषभं दुदोह।' (कृष्णकर्णामृत २।२५)

यह सब देख-सुनकर नारदजी आश्चर्यमें डूबकर विचार करने लगे कि बड़े-बड़े योगी ऋषि अपने-अपने मनको विषयोंसे खींचकर भगवान्में लगाते हैं, पर यह अनपढ़ ग्रामीण गोपी, जिसका मन सदैव श्रीकृष्णमें लगा रहता है, अपना घरेलू कार्य करने हेतु अपने मनको श्रीकृष्णसे हटानेका प्रयत्न करती है। धन्य है, इसका जीवन एवं इसका प्रेम।

इसके अतिरिक्त भगवान् श्रीकृष्णने अवतीर्ण होकर समाजके असामाजिक तत्त्वोंका नाश किया। कंसने अपने माता-पिता, बहन-बहनोईको कैद कर लिया था। वह प्रजामें अपना प्रभुत्व जमानेका जघन्य कार्य करता था। भगवान्ने उस कंसका संहार कर उसके सहायक क्रूर राक्षसोंका भी वध किया। अपने माता-पिताकी स्वयं सेवा करके वैसा करनेका आदर्श जगत्के सम्मुख रखा। स्वयं गोपालन कर गो-सेवाका उपदेश दिया; क्योंकि भारतवर्ष कृषिप्रधान देश है; यहाँ सभीको गो-सेवा करनी चाहिये। इससे कृषिकार्य तथा दुग्धकी पूर्ति होती है, जन-मानस सुखी तथा समृद्धिपूर्ण जीवन-यापन करता है।

इसी प्रकार उन्होंने स्वयं गुरु-सेवा करके गुरु-सेवाका भी महत्त्व बतलाया। गुरुजीको मुँहमाँगी दक्षिणा 'मृतपुत्रको जीवितरूपमें' वापस लाकर दी। प्रेमियोंको प्रेमसे, माता-पिताको वात्सल्यसे, गुरुको

निज भक्तिसे, सखाओंको सौहार्दसे और सम्बन्धियोंको उनकी इच्छाओंके अनुसार सब कुछ देकर संतुष्ट किया। अर्जुनको—जो उनके सम्बन्धी तथा मित्र थे, कुरुक्षेत्रमें गीता-ज्ञान देकर, उनका सारथि बनकर, उन्हें विजय दिलाकर कृतार्थ किया। कोई भी जीव अपनेको भगवदर्पण कर अपने जीवन-रथकी बागडोर भगवान्‌को सौंप दे तो वे उसका समुचित मार्ग-निर्देशन करते हैं—आज भी करते हैं, इसमें तनिक भी संदेह नहीं करना चाहिये।

साधन-चतुष्टय-सम्पन्न शुद्ध अन्तःकरण ही वसुदेव है। ब्रह्माकार-वृत्तिप्रकाशिका बुद्धि ही देवकी है। जब मनुष्यके अन्तःकरणमें प्रकाशिका-वृत्तिका उदय होता है, जब दोनों एकत्र होते हैं, तभी परमात्माका आविर्भाव होता है।

अतः मनुष्यको साधनासे अन्तःकरणको शुद्ध करके प्रकाशिका-वृत्तिका उदय करना चाहिये। जब दोनों एक होते हैं, तब भगवत्तत्त्वका उदय (जन्म) होता है। यदि कोई ऐसा आज भी करे तो उसका जीवन सफल हो सकता है।

क्षमा—एक श्रेष्ठ मानवीय गुण

(लेखक—श्रीशिवानन्दजी)

महाभारत-आदिपर्व तथा मत्स्यपुराणमें ययातिका देवयानीके प्रति क्षमाका उपदेश बड़ा मार्मिक है। हरिवंश-भविष्यपर्व अ० ११२में भी भगवान् श्रीकृष्णके दुर्वासाजीके प्रति वचन हैं—

क्षमा धर्मः क्षमा सत्यं क्षमा दानं क्षमा यशः।
क्षमा स्वर्गस्य सोपानमिति वेदविदो विदुः॥
(१८-१९)

'वास्तवमें क्षमा ही धर्म, क्षमा ही सत्य और क्षमा ही दान, यश एवं स्वर्गकी सीढ़ी है—ऐसा वेदके मर्मज्ञ विद्वानोंका कथन है।'

क्षमासे मनकी आकुलता नष्ट होती है तथा उसमें स्थिरता आती है। क्षमा मनको निर्मल करती है और उसमें सात्त्विकताका संचार करती है। जो मनुष्य दूसरोंको क्षमा नहीं कर सकता, वह अपनेको भी क्षमा नहीं कर सकता तथा पश्चात्तापद्वारा अपराध-भावनासे पूर्णतया मुक्त न होकर सदैव प्राकृत गुणोंसे आबद्ध एवं दुःखी रहता है।

बाधा उपस्थित होनेपर भी क्रोध न करना और शान्तभाव बनाये रखना क्षमाका लक्षण है।

बाह्ये आध्यात्मिके चैव दुःखे चोत्पादिते क्वचित्।
न कुप्यति न वा हन्ति सा क्षमा परिकीर्तिता॥
(बृहस्पतिसंहिता)

अर्थात् 'जो मनुष्य व्यावहारिक कार्योंमें अथवा अपनी आध्यात्मिक साधनामें कष्टके सब कारण उपस्थित होनेपर न तो कोप करता है, न किसीको हानि पहुँचाता है, उसकी क्षमा ही सच्ची क्षमा है।'

क्षमाकी महिमा प्रायः सभी धर्मोंमें समान है। उत्तम क्षमाकी व्याख्या प्रस्तुत करते हुए एक मूर्धन्य जैनाचार्य कहते हैं कि जहाँ आक्रोशपूर्ण वचन सुनकर भी पवित्र भावोंका आविर्भाव होता है तथा चित्तको आत्माके गुणोंमें समाहित किया जाता है, वहीं उत्तम क्षमा होती है। जैनमतके अनुसार धर्मके दस लक्षणोंका प्रारम्भ उत्तम क्षमासे होता है और उनका समापन अथवा पूर्णत्व क्षमापर्वसे होता है। क्षमापर्व क्षमाकी महिमाको प्रतिष्ठित करता है तथा यह प्रमाणित करता है कि धर्मका आदि और अन्त क्षमाके धारणमें ही निहित है। तीर्थंकर महावीर कहते हैं—

खम्माणि सव्वजीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे।
मैत्ती मे सव्वभूतेसु वैरं मज्झं न केनवि॥

'मैं सब जीवोंको क्षमा कर दूँ तथा सब जीव मुझे क्षमा कर दें। सब प्राणियोंके प्रति मेरा मैत्रीभाव हो, किसीसे मेरा वैर न हो।'

'सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु' (वेद)
समस्त दिशाएँ—सभी मनुष्य मेरे मित्र हों।

ईसा कहते हैं—'तुम अपने भाइयोंको क्षमा करो, ईश्वर तुम्हें क्षमा करेगा।' जब ईसाको फाँसी दी गयी, ईसाने प्रार्थना की—'हे प्रभो! इन्हें क्षमा करो; क्योंकि ये नहीं जानते हैं कि ये क्या कर रहे हैं।' स्वामी दयानन्दने विष देकर अपने मारनेवालेको क्षमा कर दिया तथा उसकी प्राण-रक्षाके लिये उसे धन देकर शीघ्रतासे भेज दिया।

क्षमाके अभावमें मनुष्यका मन व्याकुल रहता है। उसकी निद्रा विलुप्त हो जाती है तथा उसे शय्यापर शूल चुभते हुए-से प्रतीत होते हैं। अहंकार मनुष्यको क्षमासे दूर हटाकर उसे कठोर बना देता है तथा उसके मस्तिष्कमें द्वेषजन्य विकृत संस्कार छूट जाते हैं, जो उसके शरीर और मनको दुर्बल एवं जर्जर करते रहते हैं। क्षमाके अभावसे उत्पन्न मनोविकार मनुष्यमें अनेक स्नायविक एवं शारीरिक रोगोंको जन्म देते हैं। अन्ततोगत्वा क्षमारहित मन भीरु अथवा अपराधी हो जाता है तथा मनुष्यकी उन्नतिमें बाधक हो जाता है। क्षमा करना मनुष्यका नैतिक कर्तव्य ही नहीं, अपितु उसका अपना स्वार्थ भी है। उसे सुखमय जीवन बितानेके लिये, उन्नति-पथपर आगे बढ़नेके लिये क्षमाको धारण करना आवश्यक है।

महापुरुष मान-अपमान एवं राग-द्वेषसे ऊपर उठकर व्यक्तिगत मामलोंमें सदैव सहनशीलता एवं क्षमाशीलताको अपना लेते हैं तथा अपने लक्ष्यकी ओर अग्रसर होते रहते हैं। क्षमाशील मनुष्य सहनशील हो जाता है। क्षमा सहिष्णुताकी जननी है। वैरसे वैरका शमन नहीं होता है। क्षमाभावसे ही वैर निर्बीज हो सकता है। क्षमासे ही भटके हुए मानवोंको सुधारा जा सकता है।

किसीको वचनसे क्षमा करना तो सरल है, किंतु उसे मनसे क्षमा कर देना, अपमान एवं हानिको भूल जाना कठिन है। क्षमा केवल बहिरङ्ग ही नहीं, अन्तरङ्ग भी होनी चाहिये। क्षमाका सम्बन्ध अन्तःकरणसे होता है। वास्तवमें किसी अपमानजनक घटनाको भूलना न सम्भव है, न उचित ही। 'क्षमा करो और भूलो'का अर्थ है—क्षमा करो और कटुताको भूल जाओ। हम घटनाको नहीं भूल सकते हैं, उसे मनमें दबा सकते हैं, किंतु घटनाको मनमें दबाना भयंकर होता है। अनेक बार हम अपमानको भूल जानेके प्रयत्नमें उसे स्मृतिके किसी छिपे कोनेमें दबा देते हैं; क्योंकि उसका स्मरणमात्र हमें उद्वेलित कर देता है और हमारे शरीरमें क्षोभजन्य प्रकम्प उत्पन्न कर देता है, किंतु बरबस विस्मृत करना अथवा स्मृतिमें दबा-कर छिपा देना मस्तिष्कके लिये हानिकर होता है, मस्तिष्कको दुर्बल बना देता है, मानसिक स्वास्थ्य एवं संतुलनको हानि पहुँचाता है—विस्फोटक सिद्ध हो सकता है। अतएव घटनाको भूलनेके बजाय उसकी कटुताको क्षमाभावसे धो देना उचित होता है। भूलनेका अर्थ है—स्मृतिकी कटुताको धोना। हम अपने मनको यह कहकर समझा सकते हैं कि हमारा अपमान करनेवाले नासमझ हैं अतएव वे दयाके पात्र हैं, क्षमाके पात्र हैं। हम व्यापक क्षमा धारण करके मनको निर्मल कर सकते हैं। विगत जीवनमें हमने जो भी अपमान एवं हानिका दुःख सहन किया है, उसे स्मृतिपटलपर लाकर क्षमाभावसे उसकी कटुताको

धोना मानो मनके व्रणोंको धोकर मनको स्वस्थ एवं सुखी करना है ।

आर्त एवं दु:खी मनुष्य क्षमाके विशेष अधिकारी होते हैं—'आरत के चित रहइ न चेतू।' रोगी अथवा दु:खीके प्रति हमें विशेष सहनशील एवं क्षमाशील होना चाहिये । असमर्थ एवं दुर्बल व्यक्तिके दोषकी क्षमाका विशेष महत्त्व होता है ।

क्षमा व्यक्तिके जीवनमें निर्मलताका संचार करके उसे स्वस्थ एवं संतुलित, शान्त एवं सुखी बना देती है तथा समाजमें सुखकी अभिवृद्धि करती है । यदि मनुष्य क्षमा धारण कर लें, तो घरोंमें स्वर्गका दर्शन हो, संस्थाओंमें उन्नति हो और न्यायालयोंमें भीड़ कम हो जाय । हिंसा एवं स्वार्थ सम्बन्धोंको तोड़ते हैं, क्षमा सम्बन्धोंको जोड़ती है, उन्हें मधुर बना देती है । क्षमाके माधुर्यका अनुभव अन्तःकरणमें होता है । क्षमा मानवकी समस्त सद्वृत्तियोंके मूलमें स्थित है, मधुर व्यक्तित्वका मूलाधार है । क्षमा मानव-जगत्में पशु-जगत्के मत्स्य-न्यायको लागू नहीं होने देती है । क्षमा अहिंसाका प्राण है ।

क्षमाशीलता अभ्यास एवं साधनाद्वारा प्राप्त होती है । क्षमारहित व्यक्ति अपने हृदयमें अपमानकी स्मृतिको पत्थरकी लकीरकी भाँति स्थायी बना लेता है; किंतु क्षमाशील व्यक्तिके मनमें वह जलकी रेखाकी भाँति उत्कीर्ण नहीं हो पाती । क्षमा वीर पुरुषका शस्त्र है । क्षमा आत्म-विजय प्राप्त करनेपर अर्जित होती है । क्षमा प्रेमपूर्ण व्यक्तित्वका सहज गुण होता है, आत्म-विजयीकी अमूल्य निधि होती है । क्षमाशील व्यक्ति कटुताका उत्तर मधुरतामें देता है । यदि वह समाज-व्यवस्थाके हितमें किसीको दण्ड देता है तो भी व्यक्तिगत क्रोधसे उत्तेजित न होकर कर्तव्य-भावनासे प्रेरित होकर ही देता है तथा उचित अवसर आते ही क्षमादान कर देता है । क्षमा दुर्बलताका पर्याय नहीं है, अपितु वह सबलताकी सूचक है ।

इसी प्रकार भूल हो जानेपर हमें साहस बटोरकर अपराध-स्वीकृति ही नहीं, बल्कि क्षमा-याचना भी करनी चाहिये । आत्म-सुधारके लिये अपराध-स्वीकृति एवं क्षमा-याचना प्रथम पग है । क्षमा माँगने और देनेके लिये नैतिक साहसकी आवश्यकता होती है । महात्मा गाँधी कहते थे कि दुर्बलकी अहिंसा तो कायरता होती है । सबल एवं निर्भय व्यक्ति ही सच्ची क्षमा कर सकता है । क्षमा वीरकी शोभा होती है । निर्भय होकर, प्रतिरोध करनेका साहस होनेपर भी क्षमा करना परम शौर्यका परिचायक है । सम्पूर्ण संकीर्णताओंसे ऊपर उठकर मानवमात्रको हृदयसे लगानेवाला, जीवमात्रसे प्रेम करनेवाला व्यक्ति ही सम्यक् प्रकारसे क्षमा धारण कर सकता है । अतएव क्षमा मानव-जीवनका परमोज्ज्वल रत्न है ।

इस सम्बन्धमें व्यासदेवके ये वचन बड़े महत्त्वके हैं—

वयं हि ब्राह्मणास्तात क्षमयार्हणतां गताः ।
यया लोकगुरुर्देवः पारमेष्ठ्यमगात् पदम् ॥
क्षमया रोचते लक्ष्मीर्ब्राह्मी सौरी यथा प्रभा ।
क्षमिणामाशु भगवांस्तुष्यते हरिरीश्वरः ॥

(श्रीमद्भा० ९ । १५ । ३९-४०)

अर्थात् 'क्षमासे ही ब्राह्मण पूज्य हुए हैं, ब्रह्माने परमेश्वर पद पाया है । क्षमासे ही ब्राह्मी श्री सूर्यकी प्रभाके समान चमक उठती है और भगवान् भी क्षमाशीलोंपर तुरंत प्रसन्न होते हैं ।'

पुराणोंमें भगवान् विष्णुकी भृगुके प्रति तथा महर्षि वसिष्ठकी विश्वामित्रके प्रति क्षमाके अद्भुत उदाहरण मिलते हैं । भृगुजीने भगवान् विष्णुकी छातीमें लात मारी । भगवान् विष्णुने झट उठकर महर्षिके चरणोंको अपने कोमल हाथोंसे सहलाते हुए कहा कि मेरे कठोर वक्षःस्थलसे आपके चरणोंको पीड़ा पहुँची होगी । आप कृपया मुझे क्षमा कर दें ।

जीवनमें स्वरोदयकी महत्ता

(लेखक—गुरु श्रीरामप्यारेजी अग्निहोत्री, एम्० ए०, साहित्यरत्न, साहित्यालंकार)

संसारमें प्राणिमात्रके लिये प्राणवायुके अतिरिक्त जीवन धारण करनेका दूसरा कोई साधन नहीं है। जबतक शरीरमें प्राणवायु संतुलित अवस्थामें रहती है, तबतक जीवन अबाधगतिसे चलता रहता है; किंतु इसके असंतुलित होते ही शरीर व्याधि-मन्दिर बन जाता है। सर्दी, जुकाम, ज्वर आदिका उत्पात होने लग जाता है। आजकल स्थान-स्थानपर औषधालयों, चिकित्सालयोंकी भरमार है, जहाँ सुबहसे लेकर शामतक मरीजोंकी भीड़ लगी रहती है। वैद्यों और डाक्टरोंको रोग-निवारणके लिये बराबर प्रयास करना पड़ता है। रोग-निवारणके लिये पर्याप्त धन-राशि भी व्यय की जाती है। कुछ रोग तो ऐसे होते हैं, जिनका उपचार किया जा सकता है और कुछ ऐसे भी होते हैं, जिन्हें डाक्टरों और वैद्योंद्वारा असाध्य घोषित कर दिया जाता है। फिर भी मानव-जीवनमें वृद्धावस्था तो एक ऐसी अवस्था है, जिसमें रोगोंका आक्रमण निरन्तर होता ही रहता है। व्यक्ति रोगोंका उपचार कराते-कराते परेशान हो जाता है और अन्तमें यमालयकी ओर प्रस्थान कर जाता है। वृद्धावस्थामें कमर झुक जाती है, दमा-जैसा रोग जड़ पकड़ लेता है, आँखोंकी ज्योति विदा हो जाती है, कानोंसे सुनायी कम पड़ता है, शरीरमें झुर्रियाँ पड़ जाती हैं, त्वचा मांस-पेशियोंको छोड़कर झूलने लगती है, लिखने-पढ़नेमें हाथोंमें कम्पन आ जाता है और यहाँतक कि सिर भी घड़ीके पेंडुलमकी तरह हिलता ही रहता है। दाँत उखड़ जानेपर मुँहकी शोभा पिचक जाती है और उसका कुछ दूसरा ही रूप हो जाता है। यह सब कुछ चिकित्सासे भी ठीक नहीं होता।

प्राचीनकालमें चिकित्सालय बहुत कम थे। वैद्यों और डाक्टरोंकी दूकानें भी कम ही थीं; फिर भी लोग नीरोग रहा करते थे। दीर्घ आयु उनके जीवनका व्रत था। लोग सौ वर्षोंसे अधिक जीवित रहते थे—

ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः।
मया पत्या प्रजावति सं जीव शरदः शतम्॥

(अथर्ववेदसंहिता १४। १। ५२)

विवाहके समय पति पत्नीके लिये अपने साथ-साथ एक सौ वर्षोंतक जीने एवं सुख भोगनेकी कामना किया करता था।

ॐ तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्।

(यजु० अ० ३६। २४)

संध्याके अतिरिक्त विवाहके समय भी इस मन्त्रका उच्चारण कर सूर्यभगवान्का अवलोकन किया जाता था। वेदोंमें इस प्रकारके अनेकों मन्त्र हैं, जिनसे स्पष्ट होता है कि लोग सभीके सौ वर्षोंतक जीवित रहनेकी कामनाकिया करते थे। आजके युगमें तो पैदा होते ही दवाइयोंकी आवश्यकता पड़ जाती है और मरते समय भी 'कोरामिन'का इन्जेक्शन मरीजकी चेतनताके लिये लगाया जाता है। सारा जीवन दवाइयोंके बलपर चलता है और जब दवाइयाँ प्रभावहीन हो जाती हैं, तब जीवनका अन्त हो जाता है। जब मानवीय शक्ति असफल हो जाती है, तभी दैवी शक्तिकी मान्यता होती है।

वास्तवमें जीवनमें मूल तत्त्व दो ही हैं। एक तो शरीरको स्पन्दित करनेके लिये स्वर (श्वास) और शरीरको तरल रखनेके लिये जल। स्वर और जलकी साधना कर लेनेपर जीवनमें कभी कोई रोग नहीं आता; शक्तिका ह्रास नहीं होता। यहाँतक कि स्वर-साधनासे मृत्युके क्षण भी टल जाते हैं, जैसा कि कुछ वर्षों पहले मैंने ही उपर्युक्त शीर्षक निबन्धमें पूर्णरूपसे स्पष्ट भी किया था और जिससे 'कल्याण'के पाठकोंको लाभ भी हुआ होगा।

अपने पूर्वके निबन्धोंमें मैंने पाठकोंको स्वर-प्रवाहसे परिचित कराया था और साथ ही स्वर-साधनाका संकेत भी किया था। नाक (नासिका) मानव-शरीरका प्रमुख अङ्ग है। इसमें दो छेद होते हैं, जो एक पतली झिल्लीसे अलग-अलग होते हैं। स्वर-प्रवाह नासिका-छिद्रोंसे ही होता है। कभी बायें छिद्रसे और कभी दायें छिद्रसे स्वर-प्रवाह वेगके साथ होता है। कभी-कभी दोनों छिद्रोंसे स्वर-प्रवाह समान गतिसे होता रहता है। बायाँ स्वर चन्द्रस्वर, दायाँ स्वर सूर्यस्वर और दोनों छिद्रोंसे बहनेवाला शिवस्वर होता है। इन स्वरोंके आधारपर जल ग्रहण करनेसे शरीरमें किसी प्रकारके रोगका आक्रमण नहीं होता। चन्द्रस्वर शीतलताका और सूर्यस्वर उष्णताका बोधक होता है। शिवस्वर अनर्थकारी होता

है। इस स्वरके प्रवाहके समय सिवा भगवान्के भजनके और कार्योंका अनुष्ठान निषिद्ध माना गया है।

बायें स्वरके प्रवाहके समय गरम चाय पीने, गरम दूध पीने, गरम भोजन करने अथवा दायें स्वरके प्रवाहके समय ठंडा पानी पीने, शरबत पीने, ठंडा भोजन करने या अन्य ठंडी वस्तुओंका उपयोग करनेसे सर्दी-जुकाम हो जानेकी सम्भावना रहती है। इससे ज्वरका आक्रमण, सिर-दर्द, शरीरमें पीड़ा, सुस्ती, भूख न लगना, मन्दाग्नि, अपच, दम फूलने-जैसी बीमारियोंका हो जाना स्वाभाविक है। अनुकूल स्वर होनेपर इस प्रकारका कोई शारीरिक उत्पात नहीं होता। पहलेके निबन्धोंमें हम बता चुके हैं कि विपरीत स्वरोंको कैसे अनुकूल बना लिया जाता है। यदि सहज रूपसे स्वरकी अनुकूलता सम्भव हो, तो प्यास लगनेपर या अन्य गरम या शीतल पेय पदार्थोंके ग्रहण करते समय स्वर बंद कर लेना चाहिये; अर्थात् शीतल जल आदि अथवा गरम चाय या दूध आदि पीते समय नाकसे श्वास नहीं लेनी चाहिये। आवश्यकता पड़नेपर मुँहसे भी श्वास ली जा सकती है। उक्त वस्तुओंके ग्रहण करनेके बाद भी दो मिनटतक नाकसे श्वास न लेकर मुँहसे ही श्वास लेनी चाहिये। जीवनभर कभी भी सर्दी-जुकाम या खाँसीकी बीमारी नहीं हुई, तो ज्वर कभी नहीं आता और शरीर सदा स्वस्थ और स्फूर्तिमय बना रहता है, शक्तिका ह्रास नहीं होता तथा कमजोरी-आलस्यका प्रभाव भी शरीरपर कभी नहीं पड़ता।

चाहे खूब मेहनतके बाद, चाहे कड़ी धूपके बाद, चाहे दौड़ने या सोनेके बाद प्यास लगनेपर, बिना विश्राम किये तुरंत ही जल ग्रहण करना चाहिये। पर ध्यान रहे, जल पीते समय नाकसे श्वास नहीं लेनी चाहिये। इससे कभी किसी बीमारीका आक्रमण नहीं होगा। प्यास लगनेपर शीघ्र जल ग्रहण न करनेसे भी कण्ठमें जलन या अधिक प्यास-जैसी बीमारियाँ हो जाती हैं। इसी प्रकार ठंडे जलसे स्नान करते समय बायाँ स्वर, शौच जाते समय दायाँ स्वर चलना चाहिये। यदि दायाँ स्वर चल रहा हो और ठंडे जलसे स्नान कर लिया जाय, तो सर्दी-जुकाम, सर्दी-गर्मी-जैसी बीमारियोंका हो जाना स्वाभाविक है। शौच जाते समय यदि दायाँ स्वर नहीं चलता होगा, तो पेट साफ नहीं होगा। इसलिये शौच जाते समय यदि दायाँ स्वर न चलता हो, तो या तो स्वर बदल लेना चाहिये अथवा बायीं नासिकाके छिद्रको रूईके फाहे या रूमाल आदिसे बंद कर लेना चाहिये। कुछ दिनोंके बाद शौचके समय दायाँ स्वर स्वाभाविक रूपसे चलने लगेगा।

दिलकी धड़कन संतुलित रखनेके लिये, हृदयकी गतिको पूर्ववत् बनाये रखनेके लिये, वृद्धावस्थामें दमा, खाँसी आदिसे बचनेके लिये श्वास-प्रश्वासकी क्रिया सर्वोपयोगी है। श्वास-प्रश्वासक्रिया करनेसे न तो कभी हृदयगति रुकनेका भय होता है और न श्वासकी कभी कोई दूसरी बीमारी ही होती है। श्वास-प्रश्वास-क्रिया बैठे-बैठे, लेटे-लेटे या रास्ता चलते-चलते भी किसी भी समय की जा सकती है। श्वास-प्रश्वास-क्रिया जीवनके लिये सर्वोपयोगी है। इसका अभ्यास करनेसे न तो कभी उदर-विकार होता है, न कभी मन्दाग्नि होती है और न कभी उदर-शूल जैसी बीमारियाँ ही होती हैं।

श्वास-प्रश्वास-क्रिया तीन प्रकारकी होती है। एक तो नाकके द्वारा जोरसे श्वास खींचकर मुँहके रास्ते बाहर निकालना, दूसरा, मुँहके रास्ते श्वास खींचकर नाकके रास्तेसे बाहर निकाल देना है। तीसरी क्रिया—नाकसे जोर-जोरसे श्वास लेना और नाकके रास्ते ही बाहर निकाल देना है। यह क्रिया इच्छानुसार एक या दो मिनटसे लेकर ज्यादा-से-ज्यादा दस मिनटतक की जा सकती है। सबसे अच्छा समय तो प्रातःकालका होता है, जब कि पेट साफ हो। किसी आसनपर बैठकर इस क्रियाके करनेसे अतीव लाभ होता है। रातको सोते समय यह क्रिया लेटकर भी की जा सकती है। सोते समय इस क्रियाके करनेसे गहरी नींद आ जाती है और रातको एक भी स्वप्न नहीं आता। रातको हमेशा बायीं करवट सोनेसे कभी अपच नहीं होता और प्रातःकाल पेट साफ हो जाता है।

बैठकर श्वास-प्रश्वास-क्रिया करनेसे रीढ़की हड्डी कभी टेढ़ी नहीं होती, वृद्धावस्थातक कमर सीधी रहती है। श्वास-प्रश्वास-क्रिया करते समय सिर और हाथोंको सीधा रखनेसे सिर और हाथोंमें कभी कम्पन-जैसी बीमारी नहीं होती। वृद्धावस्थामें जब दाँत गिर जाते हैं, मुँहका आकार भद्दा हो जाता है या मुँहपर झुर्रियाँ पड़ जाती हैं, आँखोंकी ज्योति कम हो जाती है, कानोंसे कम सुनायी पड़ने लगता है, तब प्राणवायुका स्तम्भन अत्यन्त लाभदायक होता है। नियमित-रूपसे सुबह-शाम मुँहमें प्राणवायुका स्तम्भन मुँहके आकारको नहीं बिगड़ने देता और न कभी मुँहमें झुर्रियाँ ही पड़ने देती हैं।

यह अभ्यास बड़ा सरल है। प्रातः या शामके समय जमीन या

काठके तख्तेपर किसी आसनपर सीधे बैठकर जोरसे नाकके रास्ते मुँहमें प्राणवायुको भरकर उसे दो-चार मिनट जितना हो सके, रोकना चाहिये और जब उकताहट-सी जान पड़े, तब उसे नाकके रास्ते ही बाहर निकाल देना चाहिये। इसी प्रकार कम-से-कम तीन बार और ज्यादा-से-ज्यादा जितनी बार सम्भव हो, इस क्रियाको करते रहनेसे मुँहकी बनावटमें अन्तर नहीं पड़ता, साथ ही मुखसम्बन्धी कोई रोग भी नहीं होता। मुँहमें भरी हुई वायु अधिक जोर देनेपर यदि आँखोंके मार्गसे बाहर निकलने लगती है तो आँखोंकी ज्योति कभी नहीं घटती, साथ ही कानके रास्तेसे निकलनेपर कभी बहरापन भी नहीं होता।

यह अभ्यास नियमितरूपसे करते रहनेसे स्थायी लाभ होता है और कभी किसी ओषधिकी आवश्यकता नहीं होती। जिस प्रकार साइकिल, बस या ट्रकके ट्यूबमें हवा भरकर उससे लम्बी यात्राएँ कर ली जाती हैं या भारवाहनका काम ले लिया जाता है, उसी प्रकार शरीरके भिन्न-भिन्न अङ्गोंमें वायुस्तम्भनसे नयी स्फूर्ति आती है और शक्तिका ह्रास नहीं होता। इससे त्वचामें भी सिकुड़न नहीं आती और शरीर पत्थरकी तरह मजबूत हो जाता है। जिस प्रकार नाकसे वायु मुँहमें भरकर उसका स्तम्भन किया जाता है, उसी प्रकार वायुका स्तम्भन मस्तिष्कमें, पेटमें और हृदयमें भी किया जाता है। मस्तिष्कमें वायुस्तम्भनसे स्मरणशक्ति कभी नष्ट नहीं होती, साथ ही घबराहट या चक्कर-जैसी बीमारी भी कभी नहीं होती।

पेटमें वायुके स्तम्भनसे उदरविकार कभी नहीं होते। वायुविकार भी कभी नहीं होता। हृदयमें वायुस्तम्भनसे हार्टफेल (हृदयगति रुकने)की नौबत नहीं आती और दिलकी धड़कनका रोग भी प्रायः शान्त हो जाता है, फेफड़ेमें भी किसी प्रकारका विकार नहीं आने पाता।

इस प्रकार स्वरके उपयोगसे जीवनमें अनन्त लाभ होते हैं। मानव उसकी जानकारी प्राप्त कर उससे अभय आनन्दका उपभोग करने लगता है। स्वर जीवनमें नियमितरूपसे प्रवाहित होता है। प्रातः उठते समय चन्द्रस्वर बहता है। सूर्योदय, मध्याह्न और सूर्यास्तके समय बदलकर सूर्यस्वर बहने लगता है। (रातको सोते समय हमेशा) बायीं करवट सोनेसे सूर्यस्वरका प्रवाह होता रहता है। इसी प्रकार तिथियोंके अनुसार भी स्वरप्रवाहकी भिन्न-भिन्न गतियाँ होती हैं, जिनके सम्बन्धमें हम अपने पूर्वके निबन्धोंमें पाठकोंको जानकारी दे चुके हैं।

मनुष्यका काम केवल परमात्माको पुकारनामात्र है

बिल्लीका बच्चा सिर्फ इतना ही जानता है कि 'म्याऊँ', 'म्याऊँ' करके अपनी माताको किस प्रकार पुकारना चाहिये ? फिर आगे क्या करना है, सो सब बिल्लीको मालूम रहता है। वह अपने बच्चेको जहाँ उसे अच्छा लगता है, ले जाकर रखती है। घड़ीभरमें रसोईघरमें, घड़ी ही भरमें मालिकके गुदगुदे बिछौनेपर। हाँ, पर बिल्लीके बच्चेको सिर्फ इतना ज्ञान अवश्य होता है कि अपनी माँको कैसे पुकारूँ। इसी न्यायसे, मनुष्य जब अनन्यभावसे अपनी परम दयालु-माता—परमात्माकी पुकार करता है, तब वह तुरंत ही दौड़ा हुआ आकर उसका योगक्षेम सँभालता है। सिर्फ पुकार करना ही उसका काम है।

—स्वामी रामकृष्ण परमहंस

निन्दा और आलोचना

(लेखक—श्रीराजेन्द्रप्रसादजी जैन)

'श्रीमद्भागवत'में भगवान्‌ने विश्वको एकात्ममय देखते हुए किसीकी भी आलोचना—निन्दा-स्तुति करनेका निषेध किया है; क्योंकि ऐसा करनेवाला असत्यके अभिनिवेशसे—परमात्म-स्वरूपसे तुरंत च्युत हो जाता है—

परस्वभावकर्माणि यः प्रशंसति निन्दति ।
स आशु भ्रश्यते स्वार्थादसत्यभिनिवेशतः ॥

(श्रीमद्भा० ११ । २८ । २)

पर यदि आलोचना—निन्दा-स्तुतिके बिना रहा ही न जाय तो पीठ-पीछे भी किसीकी स्तुति ही करनी चाहिये; क्योंकि स्तुतिसे विश्व वशीभूत होता है—

यः सार्वजन्यं सुभगत्वमिच्छेद्
गुणान् स सर्वस्य वदेत् परोक्षे ।

(बृहत्सं० ७५ । ८ पूर्वार्द्ध)

'जो सभी व्यक्तियोंको वशमें करना चाहता हो, वह सबकी परोक्षमें गुण-चर्चा ही करे, आलोचना नहीं ।'

और निन्दा तो सबसे बड़ा पाप है—'पर निंदा सम अघ न गरीसा ।' वैर-बुद्धि अन्धी होती है, अतः आलोचकको आलोच्यमें न रहनेवाले दोष भी दीखने लगते हैं—

प्राप्नोति दोषानसतोऽप्यनेकान्
परस्य यो दोषकथां करोति ॥

(बृहत्सं० ७५ । ८ उत्तरार्द्ध)

फिर तो निन्दामें एक प्रकारका विचित्र रस आने लगता है । यह धीरे-धीरे एक व्यसन बन जाता है । फिर हम निन्दाकी खोजमें लगते हैं । जहाँ भी निन्दा होती दिखायी पड़ती है, वहाँ हमारा जी लगता है । आगे चलकर जिनकी निन्दा हम करना नहीं चाहते, उनकी भी निन्दा करने लगते हैं । इस प्रकार हमारे सम्बन्ध सभीसे बिगड़ने लगते हैं । शान्ति प्राप्त नहीं होती, जी ऊबने लगता है । बात आगे बढ़ती है तो परिवारके सदस्य एक दूसरेकी निन्दा करने लगते हैं । सास-बहू, पिता-पुत्र, भाई-भाईमें कलह होने लगता है । परिणामस्वरूप सभी दुःख-दारिद्र्य वहाँ एक-एक कर पहुँचने लगते हैं ।

इस प्रकार हमलोगोंने कई परिवारोंको केवल परनिन्दाके दोषके कारण नष्ट होते देखा है । परनिन्दा-से जिसकी हम निन्दा करते हैं, उसके प्रति अपमानकी भावना जन्म लेती है, जो हमारे आचरणमें प्रकट हुए विना नहीं रहती । जिसका परिणाम यह होता है कि हमारे और निन्दित व्यक्तिके सम्बन्ध कभी मधुर नहीं हो पाते । बालकों तथा नौकरोंपर इसका प्रभाव विशेषरूपसे पड़ता है । आप भले ही अपनी अवमाननाके भाव प्रकट न होने दें, परंतु बालक और नौकर उसे छिपा नहीं पाते । इसीलिये ऐसा कहा जाता है कि किसी व्यक्ति-का आपके प्रति क्या भाव है, इसका अनुमान आप अपने प्रति उसके नौकरों तथा बालकोंके व्यवहारसे लगा सकते हैं । परनिन्दासे अपने मनमें अहंकार उत्पन्न होता है । हम किसीकी निन्दा तभी करते हैं, जब हम यह समझते हैं कि जो त्रुटि उसमें है, वह हममें नहीं है ।

अतः यदि आप अपने परिवारमें होनेवाले कलहसे दुःखी हैं तो प्रयोग करके देखिये । एक वर्षके लिये व्रत लें कि आप अपने मुखसे किसीकी निन्दा नहीं करेंगे । इसे आप 'अनिन्दाव्रत' कह सकते हैं । जहाँतक हो दूसरेकी प्रशंसा करें और सबसे अच्छी बात तो वही है, जो भगवान्‌ने कही है कि हम सबमें केवल परमेश्वर का ही रूप देखते हुए विश्व-कल्याणके पथपर अग्रसर हों ।

सत्ययुगका निर्माण कीजिये

(लेखक—पं० श्रीमधुसूदनजी वाजपेयी, 'माधव')

जहाँ भक्ति है, वहाँ भगवान् हैं और जहाँ भगवान् हैं, वहाँ सत्ययुग है। भक्तिद्वारा हम अपने जीवनमें जब चाहें, तब सत्ययुग ला सकते हैं। और जितने समयतक चाहें उसे इस प्रकार बनाये रख सकते हैं। आप जब भी अपने जीवनमें भगवद्ध्यानपूर्वक भक्तिका सत्ययुग लानेका निश्चय कर लेंगे, तभी सत्ययुग आ सकता है। पुराणोंमें दृढ़तापूर्वक ऋषियोंने निर्देश किया है कि भगवान्के ध्यानसे कलियुगमें भी सत्ययुग लाया जा सकता है और इसी प्रकार सत्ययुगमें भी हिरण्यकशिपु आदिके शासनकालमें जब लोगोंने भगवान्को भुलाया था तो वह कलियुगसे भयंकर हो गया था—

कलौ कृतयुगस्तस्य कलिस्तस्य कृते युगे।
हृदये यस्य गोविन्दस्तस्य चेतसि नाच्युतः॥
(गरुडपुराण, पूर्व० २२२)

इस प्रकार भक्तिद्वारा असम्भव भी सम्भव हो सकता है, व्यक्ति और समाजका भविष्य बदल सकता है और कलियुग सत्ययुगमें परिवर्तित हो सकता है।

प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ही अपने भाग्यका विधाता है। आज हम वहीं हैं, जो हमने कल विश्वासपूर्वक बननेकी कामना की थी और भविष्यमें भी हम वही बनेंगे, जो आज हमारी बननेकी तीव्र इच्छा और दृढ़ आस्था है। यदि आप अपने जीवनमें प्रेम, मैत्री, सुख और समृद्धिका सत्ययुग लाना चाहते हैं तो अपने आपको विश्वास दिलाइये कि सच्चे भक्ति-पथपर चलनेकी क्षमता और तीव्र अभिलाषा आपके मनमें है। यह आपको भक्तिके सत्ययुगकी ओर ले जायगी। सोते-जागते विश्वासपूर्वक प्रभुसे प्रार्थना कीजिये कि वह आपको असत्से सत्की ओर, अन्धकारसे प्रकाशकी ओर तथा मृत्युसे अमरत्वकी ओर ले जायँ।

करुणामय प्रभुकी ओरसे कोई कमी नहीं है। उन्होंने तो हमें सब कुछ दे रखा है। कमी हमारी ओरसे ही है कि हम उनके वरदानोंकी प्राप्तिसे अपने-आपको अपने अविश्वासके द्वारा वञ्चित कर रहे हैं। प्रभुकृपाके प्रति यदि हम श्रद्धालु, भावुक, और प्रेमी बनकर उनपर दृढ़ विश्वास करेंगे तो हम देखेंगे कि प्रभु हमारे योग-क्षेम आदिका सभी प्रकार वहन स्वयं कर रहे हैं। यद्यपि सबसे उत्तम बात तो यह है कि हम सर्वथा गीता २। ४८ के अनुसार 'निर्योगक्षेम' बनें—योगक्षेमकी भी चिन्ता छोड़ दें, शुद्धरूपसे केवल उनका भावमय ध्यान ही करें। अटूट श्रद्धा और विश्वासके साथ किया गया नामोच्चारण तथा प्रेमसे किया गया ध्यान उनकी कृपाका द्वार तत्काल खोल देता है और उससे हमारे समस्त रोग-शोकका निवारण हो जाता है। अनेक शास्त्रोंमें मिलनेवाला समुद्रमन्थनसे प्रादुर्भूत अमृतकलशधारी भगवान् धन्वन्तरिका निम्न वचन समस्त ज्ञान-विज्ञानरूपी समुद्रके मन्थनका सार है—

अच्युतानन्तगोविन्दनामोच्चारणभेषजात्।
नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम्॥

'अच्युत, अनन्त और गोविन्द नामके उच्चारणरूपी भेषजसे समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं, यह मैं सत्य-सत्य कह रहा हूँ।'

इन दिनों पाश्चात्य जगत्में प्रार्थनाद्वारा रोगोपचार-के अनेक ज्वलन्त प्रयोग सफलतापूर्वक हुए हैं। पर सबसे बड़े रोग हैं—अज्ञान, काम, क्रोध, लोभ और मोह, जो कलियुगको बसाये हुए हैं। पर ईश्वर-भक्तिकी हुंकारके आगे कलियुग नहीं ठहर सकता। जबतक हम सोये पड़े हैं, तभीतक सत्ययुगके आगमनमें देर है। वेदका वचन है कि सोते रहना कलियुग और चलते रहना सत्ययुग है।

'सत्यमेव जयते—सत्यकी ही विजय होती है—' यह बात कह देनेमात्रसे ही सत्यकी विजय नहीं हो सकती। सत्यकी विजय तभी होगी, जब हम उसकी विजयके लिये आत्मविश्वासके साथ सङ्घटित होकर प्रयत्न करेंगे। जिस दिन सत्यकी विजय हो जायगी, उस दिन अनायास ही सत्ययुग आ जायगा। ईश्वरपर भरोसा करते हुए हमें सत्यको विजयी बनाना है—अपने व्यक्तिगत जीवनमें भी तथा सार्वजनिक जीवनमें भी।

सत्यको विजयी बनानेके लिये ईश्वर-भक्तोंको अपने अंदरकी प्रकट-अप्रकट बुराईको समाप्त करना होगा। इसके लिये पहला कदम यही है कि हम बुराईकी शक्तियों-को अजेय मानना छोड़ दें तथा ईश्वरके बलसे सम्पन्न होकर—असत्य, लोभ, बेईमानी, कामचोरी, रिश्वत इत्यादिको त्याग दें।

जैसा हमारा आचार-विचार होता है, वैसा ही हमारा युग बन जाता है। ईश्वरसे प्रार्थना कर और प्रार्थनाके अनुसार पुरुषार्थ कर हम अपने युगको सत्ययुग-में परिवर्तित कर सकते हैं और ईश्वरकी इच्छासे हम इसे अपने जीवनका लक्ष्य बनायें। ईश्वरसे प्रार्थना करें कि वह हमें अपनी अनन्य भक्ति और सत्यको विजयी बनानेके लिये प्रयत्न करनेकी शक्ति प्रदान करे।

संध्योपासनाकी अनुकरणीय निष्ठा

विनिर्भिन्नाः शितैर्बाणैस्तथा तोमरशक्तिभिः।
अश्वत्थामा कृपश्चैव कृतवर्मा च सात्वतः।
सूर्यास्तमनवेलायां समासेदुर्महद् वनम्॥
अवतीर्य रथेभ्यश्च विप्रमुच्य च वाजिनः।
उपस्पृश्य यथान्यायं संध्यामन्वासत प्रभो॥

(महाभारत)

'राजन्! शत्रुओंके तीखे बाणों, तोमरों और शक्तियोंसे जिनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग छिद गये थे, वे महारथी अश्वत्थामा, कृपाचार्य और सात्वतवंशी कृतवर्मा सूर्यास्तके समय एक महावनमें जा पहुँचे। रथोंसे उतरकर उन्होंने अश्वोंको मुक्त कर दिया और जलका विधिपूर्वक उपस्पर्शन करके संध्योपासनामें तत्पर हो गये।'

प्रणाम एवं आशीर्वादका महत्त्व

(लेखक—श्रीहरिकृष्णजी दुजारी)

हिंदू-संस्कृतिमें कई क्रियाएँ बड़ी सीधी, सुगम एवं स्वाभाविक दीखनेपर भी बड़े महत्त्वकी हैं एवं उनका फल भी बड़ा विलक्षण होता है। उन क्रियाओंमें 'प्रणाम' भी एक है। प्रणाम तो नित्य ही अपने माता-पिता एवं गुरुजनोंको किया जाता है और उनका आशीर्वाद लिया जाता है; परंतु विशेष कार्योंके पूर्व तो गुरुजनों, माता-पिता आदि अभिभावकोंको प्रणाम करके विशेषरूपसे उनकी आज्ञा एवं आशीर्वाद लिया जाता है। यह हमारी पुरातन परम्परा रही है। आदिराज मनु कहते हैं—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥
(मनुस्मृति २। १२१)

'जो नित्य अपने गुरुजनों एवं वृद्ध व्यक्तियोंकी सेवामें तत्पर रहता है तथा उनको प्रणाम करता है, उसकी चार वस्तुओंकी वृद्धि होती है—आयु, विद्या, यश तथा बल।'

किसी भी व्यक्तिको आयु, विद्या, यश तथा बल—ये वस्तुएँ किसी भी मूल्यपर मिलनी सम्भव नहीं है, परंतु हमारे ऋषि-मुनियोंने इन दुर्लभ वस्तुओंको प्राप्त करनेका यह बड़ा ही सरल साधन बतला दिया है। गुरुजनोंकी सेवा एवं उन्हें प्रणाम करनेसे तथा उनका आशीर्वाद प्राप्त करनेसे दुर्लभ वस्तुएँ भी सुलभ हो जाती हैं। हमारी हिंदू-संस्कृतिका यही महत्त्व है। इतिहास-पुराणोंमें ऐसे अनेकों उदाहरण प्राप्त होते हैं।

पतिव्रता सावित्रीको अपने भावी पतिकी केवल एक वर्षमात्र आयुका पहले ही ज्ञान हो गया था, परंतु वह देवी धैर्यसे विचलित नहीं हुई। वह अपने पातिव्रत्य धर्मपर अडिग रही। जिस दिन उसके पतिकी मृत्यु निश्चित थी, उस दिन उसने अपने आश्रमके पासके सभी तपस्वियों, ब्राह्मणों, बड़े-बूढ़ों और सास-ससुरको प्रणाम करके सौभाग्यवती होनेका आशीर्वाद प्राप्त किया—

ततः सर्वान् द्विजान् वृद्धान् श्वश्रूं श्वशुरमेव च।
अभिवाद्यानुपूर्व्येण प्राञ्जलिर्नियता स्थिता॥
अवैधव्याशिषस्ते तु सावित्र्यर्थं हिताः शुभाः।
ऊचुस्तपस्विनः सर्वे तपोवननिवासिनः॥
एवमस्त्विति सावित्री ध्यानयोगपरायणा।
मनसा ता गिरः सर्वाः प्रत्यगृह्णात् तपस्विनाम्॥
(वनपर्व, अध्याय २९६। ११-१३)

'सावित्री क्रमशः सभी ब्राह्मणों, बड़े-बूढ़ों और अपने सास-ससुरको प्रणाम कर नियमपूर्वक हाथ जोड़कर उनके सामने खड़ी रही। उस तपोवनमें रहनेवाले सभी तपस्वियोंने उसके लिये वैधव्यनिवारक शुभ और हितकर आशीर्वाद दिये। सावित्रीने ध्यानयोगमें स्थित हो तपस्वियोंकी उस आशीर्वादमयी वाणीको 'एवमस्तु' कहकर मन-ही-मन शिरोधार्य किया।'

देवी सावित्रीका प्रणाम और गुरुजनों-तपस्वियोंका आशीर्वाद निरर्थक नहीं रहा। पतिव्रता-शिरोमणि देवी सावित्रीने मृत्युको प्राप्त अपने पति सत्यवान्को पुनः जीवित अवस्थामें प्राप्तकर तीन सौ वर्षतक पतिके साथ सुख भोगा। प्रणाम एवं आशीर्वादके महत्त्वका यह एक बड़ा अनोखा उदाहरण है।

सप्तकल्पान्तजीवी मार्कण्डेयजीकी दीर्घायुष्यप्राप्तिमें भी केवल प्रणामका ही रहस्य छिपा है। पुराणोंमें यह कथा विस्तारसे वर्णित है। उनको केवल सात वर्षकी ही आयु मिली थी, पर सप्तर्षियों तथा ब्रह्माजीको प्रणाम करनेसे वह सात कल्पकी हो गयी।

स्वयं भगवान् श्रीरामने माता-पिता एवं गुरुजनोंको प्रणाम करके आशीर्वाद प्राप्त करनेका अनुपम आदर्श प्रस्तुत किया। रामचरितमानसमें इस विषयके अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं। भगवान् श्रीराम महर्षि विश्वामित्रके साथ वनमें जाते समय सबको प्रणाम कर आशीर्वाद प्राप्त करके आगे बढ़ते हैं—

सौंपे भूप रिषिहि सुत बहुबिधि देइ असीस।
जननी भवन गए प्रभु चले नाइ पद सीस॥
(मानस १। २०८ (क))

'महाराज दशरथने बहुत प्रकारसे आशीर्वाद देकर पुत्रोंको ऋषि विश्वामित्रके हवाले कर दिया। फिर प्रभु माताके महलमें गये और उनके चरणोंमें सिर नवाकर चले।'

इसी प्रकार भगवान् श्रीरामके विवाहके मङ्गलमय प्रसङ्गको देखें। महाराज दशरथ बरात लेकर जनकपुर पहुँचते हैं। तब भगवान् श्रीराम अपने पिता, गुरुजन, विप्रजन सभीको प्रणाम करके उनसे आशीर्वाद प्राप्त करते हैं—

पुनि दंडवत करत दोउ भाई। देखि नृपति उर सुखु न समाई॥
पुनि बसिष्ठ पद सिर तिन्ह नाए। प्रेम मुदित मुनिबर उर लाए॥
बिप्र बृंद बंदे दुहुँ भाईं। मनभावती असीसें पाईं॥
(मानस १। ३०७। ३, ५-६)

'दोनों भाइयों—श्रीराम-लक्ष्मणको दण्डवत्-प्रणाम करते देखकर राजा दशरथके हृदयमें सुख समाया नहीं। फिर श्रीराम-लक्ष्मणने वसिष्ठजीके चरणोंमें सिर नवाया। मुनिश्रेष्ठने प्रेमजनित आनन्दमें विभोर होकर उन्हें हृदयसे लगा लिया। तदनन्तर दोनों भाइयोंने सब ब्राह्मणोंकी वन्दना की और मनभाये आशीर्वाद पाये।'

केवल भगवान् श्रीराम ही नहीं, महाराज जनकजी भी विवाहके अवसरपर ऋषिजन, गुरुजनोंकी पूजा कर उन सभीका आशीर्वाद प्राप्त करते हैं—

बामदेव आदिक रिषय पूजे मुदित महीस।
दिए दिब्य आसन सबहि सब सन लही असीस॥
(मानस १। ३२०)

× × ×

मुनि मंडलिहि जनक सिरु नावा। आसिरबाद सबहि सन पावा॥
(मानस १। ३४०। १)

'महाराज जनकने वामदेव आदि ऋषियोंकी प्रसन्न मनसे पूजा की। सभीको दिव्य आसन दिये और सबसे आशीर्वाद प्राप्त किया। जनकजीने मुनिमण्डलीको सिर नवाया और सभीसे आशीर्वाद पाया।'

—विवाह-महोत्सव सानन्द सम्पन्न हो जानेके बाद महाराज दशरथ बारातके साथ अयोध्या पहुँचते हैं और वहाँ ऋषिजनों-गुरुजनोंकी पद-वन्दना करके आशीर्वाद प्राप्त करते हैं—

पूजे गुर पद कमल बहोरी। कीन्हि बिनय उर प्रीति न थोरी॥
(मानस १। ३५१। ८)

बधुन्ह समेत कुमार सब रानिन्ह सहित महीसु।
पुनि पुनि बंदत गुर चरन देत असीस मुनीसु॥
(मानस १। ३५२)

'महाराज दशरथने गुरु वसिष्ठजीके चरणकमलोंकी वन्दना की। उनके हृदयमें अत्यधिक प्रीति थी। बहुओंसहित सब राजकुमार और रानियोंसमेत राजा दशरथ बार-बार गुरुजीके चरणोंमें प्रणाम करते हैं और मुनीश्वर वसिष्ठ आशीर्वाद देते हैं।'

भगवान् श्रीराम सर्वसमर्थ त्रिकालज्ञ हैं। उनके संकल्पमात्रसे राक्षसोंका नाश हो सकता था, परंतु फिर भी उन्होंने राक्षसोंको मारनेके लिये ऋषि-मुनियोंसे आशीर्वाद माँगा। यह प्रसङ्ग भी अवलोकनीय है। महर्षि अगस्त्यजीके आश्रममें पहुँचनेके बाद वहाँके सभी मुनियोंसे भगवान् श्रीराम आशीर्वादकी याचना करते हैं—

मुनि समूह महँ बैठे सन्मुख सब की ओर ।
सरद इंदु तन चितवत मानहुँ निकर चकोर ॥
तब रघुबीर कहा मुनि पाहीं । तुम्ह सन प्रभु दुराव कछु नाहीं ॥
तुम्ह जानहु जेहि कारन आयउँ । ताते तात न कहि समुझायउँ ॥
अब सो मंत्र देहु प्रभु मोही । जेहि प्रकार मारौं मुनिद्रोही ॥
(मानस ३ । १२-१-२)

'मुनियोंके समूहमें श्रीरामचन्द्रजी सबकी ओर सम्मुख होकर बैठे हैं । ऐसा जान पड़ता है, मानो चकोरोंका समुदाय शरत्पूर्णिमाके चन्द्रमाकी ओर देख रहा हो । तब श्रीरामचन्द्रजीने मुनिसे कहा—'हे प्रभो ! आपसे कुछ छिपाव नहीं है । मैं जिस कारणसे आया हूँ, वह आप जानते ही हैं । इसीसे हे तात ! मैंने आपसे समझाकर कुछ नहीं कहा । हे प्रभो ! अब आप मुझे वही मन्त्र दीजिये, जिससे मैं मुनियोंके द्रोही राक्षसोंको मारूँ ।'

भगवान् श्रीरामकी विनम्रता अनोखी थी । उनका तो सहज स्वभाव ही था कि वे प्रत्येक शुभ कर्मके पूर्व माता-पिता, ऋषिजन एवं गुरुजन आदिकी चरण-वन्दना कर, उन सबसे आशीर्वाद प्राप्त कर कार्य आरम्भ करते थे ।

पाण्डवोंने भी आशीर्वादके बलपर ही महाभारतके युद्धमें विजय प्राप्त की थी । उन लोगोंने युद्धके पूर्व शत्रु-पक्षकी ओरसे युद्धके लिये सन्नद्ध अपने गुरुजनों—पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, शल्य आदिकी चरण-वन्दना करके अपनी विजयका आशीर्वाद प्राप्त किया था । यद्यपि महाराज युधिष्ठिरको कवच एवं मुकुट उतारकर गुरुजनोंकी ओर पैदल जाते समय कई व्यक्तियोंने उन्हें पुकारना शुरू कर दिया था, परंतु युधिष्ठिर अपने प्रणाम करनेके कर्तव्यसे तनिक भी विचलित नहीं हुए । गुरुजनोंके आशीर्वादके फलस्वरूप ही पाण्डवोंने युद्धमें विजय प्राप्त की । यह प्रसङ्ग महाभारतके भीष्मपर्वमें विस्तारसे वर्णित है ।

प्रणाम एवं आशीर्वादकी यह हमारी अमृतमयी परम्परा है । हम सभी इस सरल, परंतु महत्त्वपूर्ण परम्पराकी उपेक्षा न करके इससे लाभ उठाते रहें ।

[प्रणाम देवपूजाका १६ वाँ या अन्तिम उपचार है । देवमूर्तिके समक्ष पुरुषोंके साष्टाङ्ग एवं स्त्रियोंके पञ्चाङ्ग प्रणाम-की विधि बतलायी गयी है । रुद्रयामल एवं कालिकापुराण आदिमें देवताओंके नमस्कारकी भी अलग-अलग प्रक्रियाएँ निर्दिष्ट हैं । शक्तिके प्रणामकी त्रिकोण आकृति बतलायी गयी है, जिसमें पहले दक्षिण, फिर वायव्य, तदनन्तर ईशानकोणमें देवीके उद्देश्यसे प्रणाम करनेकी बात कही गयी है । प्रणामके अन्तर्हृदयमें क्षमा-याचना एवं समर्पणका सार है । अभिवादनका तात्पर्य शिष्टाचारसे भी है ।

'शुद्धितत्त्व' एवं 'ब्रह्मवैवर्तपुराण'में देवता, गुरु, ब्राह्मण आदिको नमस्कार्य बतलाया गया है, साथ ही एक हाथसे प्रणामका बड़ा निषेध भी है । मन्त्रयुक्त तान्त्रिकोंके देवताके प्रति साष्टाङ्ग प्रणामको सर्वार्थ-साधक कहा गया है, खड़े होकर या बैठकर स्तोत्रपाठद्वारा नमस्कारको मध्यम कहा गया है । केवल मानस या वाचिक नमस्कारको सामान्य बतलाया गया है । परस्पर अभिवादनके भी अनेक भेद हैं, इसी प्रकार आशीर्वादके भी । फिर विभिन्न सम्प्रदायों एवं देश-विदेशोंकी प्रणाली एवं विधि-निषेध भी अलग-अलग हैं । तात्पर्य यह है कि इस पद्धतिका अनुसरण करके सभी लोग अपनी आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक सर्वाङ्गीण उन्नति कर सकते हैं ।]

धन्य कौन ?

[देवर्षि नारदके कौतूहलका रहस्य]

भगवान् श्रीकृष्ण हस्तिनापुरसे एक यज्ञसे निवृत्त होकर द्वारका लौट चुके थे। यदुकुलकी लक्ष्मी उस समय इन्द्रके वैभवको भी मात कर रही थी। सागरके मध्यमें स्थित श्रीद्वारकापुरीकी छटा अमरावतीकी सुषमाको तिरस्कृत कर रही थी। इन्द्र इससे मन-ही-मन लज्जित होकर अपनी राज्यलक्ष्मीको तुच्छ समझने लग गये थे। भगवान् नन्दनन्दनकी ऐसी अद्भुत राज्यश्रीकी वात सुनकर उसे देखनेको वहुत-से राजा द्वारका पधारे। इनमें कौरव-पाण्डवोंके साथ पाण्ड्य, चोल, कलिङ्ग, वाह्लीक, द्रविड़ एवं खश आदि अनेक देशोंके राजा-महाराजा भी सम्मिलित थे।

इन सभी राजा-महाराजाओंके साथ भगवान् श्रीकृष्ण सुधर्मा-सभामें स्वर्णसिंहासनपर विराजमान हुए। अन्य राजा-महाराजा भी चित्र-विचित्र आसनोंपर यथास्थान चारों ओरसे उन्हें घेरे बैठे थे। उस समय वहाँकी शोभा वड़ी विलक्षण थी। ऐसा लगता था, मानो देवताओं तथा असुरोंके वीच साक्षात् प्रजापति ब्रह्मा विराज रहे हों। इसी वीच मेघगर्जनाके समान भीषण नाद हुआ और वड़े जोरोंकी हवा चली। ऐसा लगने लगा कि अव भारी वर्षा होगी और दुर्दिन-सा दीखने लग गया। पर लोगोंको वड़ा आश्चर्य हुआ, जव कि इस तुमुल दुर्दिनका भेदन करके उसमेंसे साक्षात् देवर्षि नारद निकल पड़े। वे अग्निशिखाके समान ठीक नरेन्द्रोंके वीच सीधे उतर पड़े। नारदजीके पृथ्वीपर उतरते ही वह दुर्दिन (वायु-मेघादिका आडम्बर) भी समाप्त हो गया। समुद्र-सदृश नृपमण्डलीके वीच उतरकर देवर्षिने सिंहासनासीन श्रीकृष्णकी ओर मुख करके कहा—'पुरुषोत्तम! देवताओंके वीच आप ही परम आश्चर्य तथा धन्य हैं।' इसे सुनकर प्रभुने भी कहा—'हाँ, मैं दक्षिणाओंके साथ अवश्य ही परम आश्चर्य और धन्य हूँ।' देवर्षिने कहा—'प्रभो! मेरी वातका उत्तर मिल गया, अव मैं जाता हूँ।'

नारदजीको इस प्रकार चलनेके लिये उद्यत देखकर राजाओंको वड़ा आश्चर्य हुआ। वे कुछ भी समझ न सके कि वात क्या है? उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णसे पूछा—'प्रभो! हमलोग इस दिव्य तत्त्वको कुछ जान न पाये, यदि गोप्य न हो, तो इसका रहस्य हमें समझानेकी कृपा करें।' इसपर भगवान्ने कहा—'आपलोग धैर्य रक्खें, इसे स्वयं नारदजी ही सुना रहे हैं।' यों कहकर उन्होंने देवर्षिको इसे राजाओंके सामने स्पष्ट करनेके लिये कहा।

नारदजी कहने लगे—राजाओ! सुनिये, जिस प्रकार मैं इन श्रीकृष्णके माहात्म्यको जान सका हूँ, वह तुमलोगोंको वतलाता हूँ। एक वार मैं सूर्योदयके समय गङ्गा-तटपर घूम रहा था। इतनेमें ही वहाँ एक पर्वताकार कछुआ वाहर निकला। मैं उसे देखकर चकित रह गया। फिर मैंने उसे हाथसे स्पर्श करते हुए कहा—'कूर्मराज! तुम्हारा विशाल शरीर परम आश्चर्यमय है। वस्तुतः तुम धन्य हो। क्योंकि तुम निःशङ्क और निश्चिन्त होकर इस गङ्गामें सर्वत्र विचरते हो, भला, तुमसे अधिक धन्य और कौन होगा?' मेरी बात अभी पूरी भी न हो पायी थी कि विना कुछ सोचे ही वह कछुआ वोल उठा—'मुने! भला मुझमें क्या आश्चर्य है? और प्रभो! मैं भला धन्य भी कैसे हो सकता हूँ? धन्य तो हैं, ये देवनदी गङ्गा, जो मुझ-जैसे हजारों कछुओं तथा मकर, नक्र, झषादि जीवोंकी आश्रयभूता शरणदायिनी हैं। मेरे-

जैसे असंख्य जीव इनमें भरे हैं—विचरते रहते हैं, भला इनसे अधिक आश्चर्यमय तथा धन्य कौन हो सकता है ?'

नारदजीने कहा—राजाओ ! कछुएकी बात सुनकर मुझे बड़ा कुतूहल हुआ और मैं गङ्गादेवीके सामने जाकर बोला—'सरित्-श्रेष्ठे गङ्गे ! तुम धन्य हो; क्योंकि तुम तपस्वियोंके आश्रमोंकी रक्षा करती हो, समुद्रमें मिलती हो, विशालकाय जीव-जन्तुओंसे सुशोभित हो और सभी आश्चर्योंसे विभूषित हो ।' इसपर गङ्गा तुरंत बोल उठीं—'नहीं, नहीं, देवर्षे ! मैं क्या आश्चर्यविभूषित या धन्य हूँ ? इस लोकमें सर्वाश्चर्यमय परम धन्य तो समुद्र ही है, जिसमें मुझ-जैसी सैकड़ों छोटी-बड़ी नदियाँ जाकर मिलती हैं ।' इसपर मैंने जब समुद्रके पास जाकर उसकी इसी प्रकार प्रशंसा की, तो वह भी अपनी दैवी मूर्ति धारण कर लहरोंके ऊपर आया और बोला—'मुने ! मैं कोई धन्य नहीं हूँ, धन्य तो है वह वसुंधरा, जिसने मुझ-जैसे कई समुद्रोंको धारण कर रखा है और वस्तुतः सभी आश्चर्योंकी निवासभूमि भी यह भूमि ही है ।'

समुद्रके वचनोंको सुनकर मैंने पृथ्वीसे कहा—'देहधारियोंकी योनि पृथ्वि ! तुम धन्य हो । शोभने ! तुम ही समस्त आश्चर्योंकी निवासभूमि भी हो ।' इसपर वसुंधराने तत्काल प्रतिवाद किया और कहा—'अरे ! ओ कलहप्रिय नारद ! मैं धन्य-वन्य कुछ नहीं हूँ, धन्य तो हैं ये पर्वत, जो मुझे भी धारण करनेके कारण 'भूधर' कहे जाते हैं और सभी प्रकारके आश्चर्योंके निवासस्थल भी ये ही हैं ।' मैं पृथ्वीके वचन सुनकर पर्वतोंके पास उपस्थित हुआ और कहा कि वास्तवमें आपलोग बड़े आश्चर्यमय दीख पड़ते हैं । सभी श्रेष्ठ रत्न तथा सुवर्ण आदि धातुओंके शाश्वत निधान भी आप ही हैं, अतएव आपलोग धन्य हैं ।' किंतु पर्वतोंने कहा—'ब्रह्मर्षे ! हमलोग धन्य नहीं हैं । धन्य हैं प्रजापति ब्रह्मा और सर्वाश्चर्यमय जगत्के निर्माता होनेके कारण वे आश्चर्यभूत भी हैं ।'

अब मैं ब्रह्माजीके पास पहुँचा और उनकी स्तुति करने लगा—'भगवन् ! एकमात्र आप ही धन्य हैं, आप ही आश्चर्यमय हैं । सभी देव, दानव आपकी ही उपासना करते हैं । आपसे ही सृष्टि उत्पन्न होती है, अतएव आपके तुल्य धन्य अन्य कौन हो सकता है ?' इसपर ब्रह्माजी बोले—'नारद ! इन धन्य, आश्चर्य आदि शब्दोंसे तुम मेरी स्तुति क्यों कर रहे हो ? धन्य और आश्चर्य तो वे वेद हैं, जिनसे यज्ञोंका अनुष्ठान तथा विश्वका संरक्षण होता है ।' अब मैं वेदोंके पास जाकर उनकी प्रशंसा करने लगा तो उन्होंने यज्ञोंको धन्य कहा । तब मैं यज्ञोंकी स्तुति करने लगा । इसपर यज्ञोंने मुझे बतलाया कि 'हम धन्य नहीं, विष्णु धन्य हैं, वे ही हमलोगोंकी अन्तिम गति हैं । सभी यज्ञोंके द्वारा वे ही आराध्य हैं ।'

तदनन्तर मैं विष्णुकी गतिकी खोजमें यहाँ आया और आप सभी राजाओंके बीचमें श्रीकृष्णके रूपमें उन्हें देखा । जब मैंने इन्हें धन्य कहा, तब इन्होंने अपनेको दक्षिणाओंके साथ धन्य बतलाया । दक्षिणाओंके साथ भगवान् विष्णु ही समस्त यज्ञोंकी गति हैं । यहीं आकर मेरे प्रश्नका समाधान हुआ और इससे मेरा कुतूहल भी निवृत्त हो गया । अतएव मैं अब जा रहा हूँ ।

यों कहकर देवर्षि नारद चले गये । इस रहस्य मय संवादको सुनकर राजा लोग भी बड़े विस्मित हुए और सबने एकमात्र प्रभुको ही धन्य, आश्चर्यमय एवं सर्वोत्तम प्रशंसाका पात्र माना ।

मन्त्र-शक्तिका चमत्कार

(लेखक—श्रीअरुणकुमारजी शर्मा, एम्० ए०, बी० एड्, काव्यतीर्थ)

आज विज्ञानका अन्तरिक्ष युग है। पर इस युगमें भी मन्त्र-तन्त्रमें कोई वास्तविक शक्ति है या नहीं—यह एक पहेली बनी हुई है। यह तो निर्विवाद है कि प्राचीनकालमें मानवीय विश्वासों और मान्यताओंमें मन्त्र-तन्त्रोंका बहुत बड़ा स्थान था और आज भी है। अन्य दृष्टियोंसे विकसित और परिष्कृत रुचिके लोग मन्त्र-तन्त्रोंके चामत्कारिक गुण और प्रभावमें आज भी अगाध विश्वास रखते हैं। यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि तान्त्रिक सिद्धियाँ और सिद्ध पुरुषोंके वर्णनातीत प्रभाव हमें उलझनमें डाल देते हैं और आज जब मनुष्यकी छठी इन्द्रियकी और इन्द्रियातीत शक्तियोंपर खोजें हो रही हैं, हमें एक नितान्त मानवीय विश्वासका पुनर्मूल्याङ्कन करनेकी सच्ची प्रेरणा मिलती दीख पड़ती है। परामनोविज्ञानकी खोजोंने तो भौतिकवादी देशोंतकको इतना प्रभावित किया है कि रूस-जैसे देशमें भी इसपर शोधकार्य प्रारम्भ हो गया है। यह तो मानी हुई बात है कि किसी भी समस्याका दोटूक समाधान नहीं है और ऐसी जगह तो हमारे वैज्ञानिक साधन भी प्रायः समाप्त हो जाते हैं, पर आज ऐसे लोगोंको भी, जो इन्द्रियातीत किसी शक्ति या रहस्यमें विश्वास नहीं करते—आये दिन ऐसे अनुभव होते हैं, जिनसे उनकी सारी मान्यता धूलमें मिल जाती है। अस्तु !

'तन्त्र'का अर्थ वह शास्त्र है, जिसके द्वारा ज्ञानका विस्तार किया जाता है—

तन्यते विस्तार्यते ज्ञानमनेन इति तन्त्रम्।

इसके दो विशिष्ट अङ्ग हैं—यन्त्र और मन्त्र। 'यन्त्र' शब्द 'यम्' धातुसे निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है 'संयम करना, नियन्त्रण करना या विस्तृत शक्तिको केन्द्रीकृत करना।' सूर्यकी किरणें जगत्‌में व्याप्त हैं। इन विस्तीर्ण किरणोंको केन्द्रीभूत करनेपर प्रभूत शक्ति संचारित होती है, जिससे अलौकिक कार्य किये जा सकते हैं। रश्मियोंमें अत्यन्त सूक्ष्म शक्तियाँ हैं—जिन्हें एकत्रित कर विज्ञानके विधानानुसार बिकीर्ण कर अनेक भीषण कार्य सिद्ध किये जा सकते हैं। यह हम पिछले महा युद्धमें अणु बमके विस्फोटोंमें देख चुके हैं।

अब मन्त्रको लीजिये—'मन्त्र' शब्द मन् धातुके उत्तर 'त्रै' धातु एवं ड् प्रत्ययके योगसे निष्पन्न होता है (मन्+त्रै+ड्=मन्त्र)। 'मननात् त्रायते यस्मात् तस्मान्मन्त्र उदाहृतः।' जिसके मननद्वारा, चिन्तनद्वारा, ध्यानद्वारा, दुःख-कष्टकी निवृत्ति होकर परमानन्दकी प्राप्ति होती है, उसीका नाम 'मन्त्र' है।

सामान्यतया मन्त्रके तीन प्रकार हैं—वैदिक, पौराणिक और तान्त्रिक। तीनों प्रकारके मन्त्रोंमें तीन तत्त्व निहित रहते हैं—(१) प्रणव अथवा व्याहृति—परमतत्त्वके निकट आना। (२) बीज—परम-तत्त्वका दर्शन करना और उसे उपलब्ध करना। (३) देवता—लौटते समय अपने सभी तत्त्वोंको तद्भावसे परिभावित करना। एकाक्षर मन्त्रमें भी ये तीनों तत्त्व पाये जाते हैं।

एकाक्षर प्रणव या ॐकार सर्वव्यापी भगवत्तत्त्वको प्रकाश करता है। इसमें शक्तिमान् और शक्तितत्त्वके सब रहस्य विद्यमान हैं। इसके अकार, उकार, मकार—शक्तितत्त्वके और अर्द्धमात्रा 'शान्तं शिवमद्वैतम्'के द्योतक हैं।

'अर्द्धेन एकांशेन मीयन्ते परिच्छिद्यन्ते अनया इति अर्धमात्रा।'

अर्थात् 'जिसके अर्द्धमें (एकांशमें) जीव-जगत् सीमाबद्ध, परिणत अथवा निवर्तित है'—'एकांशेन स्थितो जगत्' (गीता १०।४२) यही पूर्ण अखण्ड तत्त्व अर्धमात्राका लक्ष्य है। जगत्‌के सब रहस्य एवं जगत्‌के अतीत रहस्य भगवान्‌के विश्वमय एवं विश्वातीत तत्त्व प्रणवके भीतर निहित हैं। प्रणवके अकार, उकार और मकारके द्वारा हम स्थूल, सूक्ष्म और कारणोंको तत्त्व भेदकर गुणातीत अखण्ड अदृश्य तत्-पदार्थके निकट जानेका अवसर पाते हैं।

देवता—देवता शब्द द्योतनार्थक तथा क्रीडार्थक 'दिव्' धातुसे निष्पन्न होता है। प्रकृतिके विभिन्न तत्त्वोंमें, विभिन्न स्तरोंमें चैतन्य परमात्मा किस प्रकार प्रकाशित और लीलायमान हैं, यह देवता-तत्त्वमें प्रतिभासित होता है। भगवच्चैतन्यके विभिन्न प्रतिबिम्ब अथवा विभूति एवं विभिन्न लीलाभावका नाम 'देवता-तत्त्व' है। 'देवता-तत्त्व'में किस प्रकार हमारे अन्तरिन्द्रिय, बहिरिन्द्रिय एवं देहादिके सब तत्त्वोंको भगवत्-चैतन्यमें पूर्णतया परिणत कर उस विशिष्ट जीवको पुरुषोत्तममें परिणत किया जा सकता है, इसका रहस्य और सम्भावना निहित रहती है। भगवच्चैतन्य

प्रकृतिके सब स्तरोंमें प्रतिबिम्बित होकर किस प्रकार प्रकाशित होते हैं, किस प्रकार लीला करते हैं—इस विषयका समावेश देवता-तत्त्वमें है।

मन्त्रतत्त्वके साथ शब्द-विज्ञान-रहस्य, मन्त्रमें निहित शक्ति-तत्त्व एवं उस शक्तिको जागरित करनेका रहस्य विचारणीय है। शब्द-विज्ञान-रहस्यमें शब्द-ब्रह्मका तत्त्व अर्थात् वाणीके परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी स्तरोंके भीतर कारण, सूक्ष्म, स्थूल और जगत्‌रूपमें आत्म-प्रकाशका तत्त्व निहित है। शब्दके भीतर अचिन्त्य शक्ति निहित है, इसमें संदेह नहीं और इसमें भी संदेह नहीं कि मन्त्र वैज्ञानिक प्रणालीद्वारा ठीक-ठीक साधित हो जानेपर अत्यन्त फलदायक होता है। सद्‌गुरु किस प्रकार मन्त्रमें शक्ति-संचार कर शिष्यमें शक्तिपात कर देते हैं, यह रहस्य भी बड़ा अद्भुत एवं विस्मयकारी है। मन्त्रकी अपनी अन्तर्निहित शक्ति, मन्त्रदाता गुरुकी शक्ति (संचारित शक्ति) एवं मन्त्रग्रहीता साधककी साधन-शक्ति, ये तीनों सम्मिलित होकर मन्त्रसिद्धिकी पूर्णताका सम्पादन करती हैं। इस संदर्भमें यह भी जान लेना आवश्यक है कि मन्त्र-शक्ति एवं गुरु-शक्तिके अनुकूल होनेपर भी मन्त्र-साधककी साधनाके बिना सम्यक् फललाभ नहीं होता। सिद्ध महात्माओंके मुखसे उच्चारित शब्दमें, सिद्ध पुरुषोंके प्रदत्त मन्त्रमें प्रभूत शक्ति निहित रहती है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसके अनन्तर मन्त्रके पुरश्चरण और मन्त्र-चैतन्यका चमत्कार भी सामने आता है। मन्त्रके अर्थ और भावको देह-मनके सभी तत्त्वोंमें संचारित कर देह-मनको परिभावित करनेका नाम है—मन्त्र-पुरश्चरण। मन्त्रके अर्थ और उसके देवता (अनुभूति)का एकीकरण 'मन्त्र-चैतन्य' कहलाता है। मन्त्रका पुरश्चरण और मन्त्र-चैतन्यकी सिद्धि हुए बिना सिद्धि-लाभ नहीं हो सकता, जैसा कि निम्न श्लोकमें संकेत किया गया है—

मन्त्रार्थं मन्त्रचैतन्यं यो न जानाति साधकः।
शतलक्षप्रजप्तोऽपि तस्य मन्त्रो न सिद्ध्यति॥

आगम-रहस्यके अन्दर प्रविष्ट होनेपर मन्त्रोंके अनेक भेद, जातियाँ और प्रकार प्राप्त होते हैं। मन्त्रोंसे यन्त्रोंका निर्माण किस प्रकार होता है, यह भी मन्त्रशास्त्रका गम्भीर विषय है। जो लोग इस कलासे परिचित हैं, वे मन्त्रोंके आधारपर यन्त्रोंका निर्माण कर अनेक दिव्य कार्य सिद्ध कर लेते हैं। मन्त्रोंके पाँच अवान्तर भेद हैं—(१) पुलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग एवं नपुंसक मन्त्र; (२) सिद्ध, साध्य, सुसिद्ध तथा अरि मन्त्र; (३) पिण्ड, कर्तरी, बीज, और माला मन्त्र; (४) सात्त्विक, राजस एवं तामस तथा (५) शाबर और डामर। इन भेदोंकी विस्तृत चर्चा यहाँ सम्भव नहीं है। इन मुख्य भेदोंमें जहाँतक शाबर-डामर मन्त्रोंके चमत्कारकी बात है, उनकी तन्त्र-शास्त्रमें विस्तृत चर्चा मिलती है। शाबर-मन्त्रके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'योगिनी-जाल-शाबरम्' में बहुतसे ऐसे मन्त्र हैं, जिनकी शक्तिको इयत्ता नहीं। शाबर-मन्त्रोंका निर्माण वर्णाक्षर संहतिकी शक्तिको समक्ष रखकर किया जाता है, जिसके फलस्वरूप प्रकटरूपमें मन्त्रोंका कोई अर्थ साधित नहीं होता। यही कारण है कि उनकी रचना विचित्र प्रतीत होती है। 'साबर मंत्र जाल जिन्ह सिरजा'के अनुसार शाबर-मन्त्र तत्काल सिद्ध हो जाते हैं और इनका चमत्कार भी तुरंत देखा जा सकता है। तथापि इनकी सिद्धिमें तीन बातोंका ध्यान रखना आवश्यक है, पहला—जप-क्रिया मानसिक हो, पर हो स्पष्ट। दूसरा—समय मध्यरात्रिका हो। तीसरा—स्थान नदीका तट या निर्जन हो, किंतु हो पवित्र। ग्रहण या दीपावलीके पर्वपर ये मन्त्र तत्काल सिद्ध होकर अपना फल प्रदान करते हैं।

डामर-मन्त्र भी शीघ्र सिद्ध होते तो हैं, किंतु उनका फल स्थायी नहीं होता। ये मन्त्र केवल चमत्कार दिखानेके काममें ही आते हैं। इसके अनुसार 'एकाक्षर' मन्त्रको पिण्ड-मन्त्र कहते हैं—'ॐ ह्रीं नमः' इसमें एक भाग ह्रीं बीजाक्षर है। अतः यह पिण्ड-मन्त्र है। इस मन्त्रको नित्य एक सहस्र जप करनेसे दरिद्रताका निवारण होता है। 'ॐ ऐं नमः' इस एकाक्षर मन्त्रका नित्य एक सहस्र जप करनेसे विद्या-सम्बन्धी सभी प्रकारकी सफलता मिलती है।

दो अक्षरोंवालेको कर्तरी मन्त्र कहते हैं। 'ॐ ह्रीं श्रीं नमः' यह कर्तरी-मन्त्र है। इसका नित्य एक सहस्र जप करनेसे धन-धान्यकी वृद्धि होती है।

तीन अक्षरोंसे लेकर दस अक्षरोंतकवाले मन्त्रको बीज-मन्त्र कहते हैं। 'ॐ ह्रीं हूं हैं नमः' यह बीजमन्त्र है। इसका नित्य पाँच सौकी संख्यामें जप करनेसे सभी प्रकारकी बाधाओंका निवारण होता है।

निश्चय ही मन्त्रोंका हिन्दू-संस्कृतिमें अपना विशिष्ट स्थान है। जो लोग इन विज्ञानके रहस्योंसे परिचित हैं, वे ही उनसे पूर्ण लाभान्वित भी हो सकते हैं। मन्त्र-साहित्यका

भण्डार अत्यन्त विशाल है और आज भी भारतमें मन्त्र-तन्त्रके अच्छे ज्ञाता एवं उच्चकोटिके साधक भी हैं; किंतु प्रायः वे गुप्त हैं और प्रच्छन्न-भावसे विचरण करते हैं। उन्हें पहचानना और समझना साधारण लोगोंके लिये कठिन है। मन्त्रसिद्ध पुरुष कभी किसी भाग्यशाली व्यक्तिके सामने प्रकट भी हो जाते हैं।

किंतु किसी मन्त्रसिद्ध मार्गदर्शक गुरुके अभावमें भी सर्वसाधारणके लिये रामनामरूपी मन्त्रका जप अनायास ही सिद्धि प्रदान करनेवाला है; क्योंकि कलियुगमें रामनाम ही महामन्त्र है। अन्य मन्त्रोंकी सिद्धिमें कभी-कभी विक्षेप या विपरीत परिणाम भी आते हैं, परंतु रामनाममें तो ऐसी कोई कल्पना भी नहीं; क्योंकि इन्हीं आगमोंने कहा है—

सप्तकोटिमहामन्त्राश्चित्तविभ्रमकारकाः।
एक एव परो मन्त्रो राम इत्यक्षरद्वयम्॥

अमरनाथ-यात्राके संस्मरण

(लेखक—डॉ० श्रीगिरिधरजी शर्मा, गुलेरी)

जिज्ञासाकी-प्रवृत्ति मनुष्यको नये-नये स्थानोंके अन्वेषण, प्रेक्षण तथा नये-नये सत्योंके उद्घाटन-प्रकाशनके लिये प्रेरित करती रहती है। प्रकृतिके गर्भमें कहाँ क्या छिपा है, हमारे पूर्वज ऋषि-मुनियोंने किन-किन स्थानोंपर तपस्या की?—आदि प्रश्नोंके उत्तर उपलब्ध करनेके लिये ही हमलोग विभिन्न स्थानोंकी यात्रा करते हैं। यह भी होता है कि धार्मिक भावनाओंसे उद्वेलित होकर पाप-प्रक्षालन एवं पुण्यार्जन हेतु भी मनुष्य दुर्गम तीर्थ-स्थलोंकी ओर जीवन हथेलीपर रखकर निकल पड़ता है। इसी प्रकार हम भी काश्मीरमें स्थित अमरनाथ-गुफा देखनेके लिये बिना कुछ विचार किये चल पड़े; क्योंकि वर्षोंसे मनमें इस प्रमुख शिव-तीर्थको देखनेकी उत्कण्ठा थी। इसके सम्बन्धमें अनुश्रुति प्रसिद्ध है कि माँ पार्वतीको भगवान् शिवने यहाँ अमर-कथा सुनायी थी और उसे सुनकर सद्योजात शुक शावक 'शुकदेव' ऋषिके रूपमें अमर हो गया था।

अमरनाथके पट गुरुपूर्णिमाके दिन खुलते हैं तथा रक्षा-बन्धनके दिन बंद हो जाते हैं। इधर जुलाई-अगस्तके महीनोंमें हमलोगोंको कुछ अवकाश रहता है। इन्हीं दिनों अमरनाथ जानेकी बात जब हमने अपने गाँवमें रहनेवाले वैरागी साधु श्रीविष्णुदासजीसे कही तो वे भी हमारे साथ चलनेको तैयार हो गये। अतः हम दोनों अपना-अपना सामान बाँधकर २० जुलाईको प्रातःकाल रवाना हो गये। दस मील पैदल चलकर हमने ज्वालामुखी रोडसे पठानकोटके लिये बस पकड़ ली। फिर पठानकोटसे रातकी रेलगाड़ीमें हम जम्मू पहुँच गये। प्रातःकाल तावी नदीपर स्नान-ध्यानादिसे निवृत्त होकर हमने महाराजा कर्णसिंहजीके पूर्वजोंद्वारा स्थापित रघुनाथजीके दर्शनीय मन्दिरमें देवी-देवताओंकी भव्य मूर्तियोंके दर्शन किये। जम्मूसे तीन दिनोंमें हम कहीं पैदल तो कहीं मोटरसे यात्रा करते हुए श्रीनगर जा पहुँचे। वहाँसे पैदल चलकर चन्द्रभागा (चिनाब) नदीकी सर्पाकार वक्र-गति एवं पर्वतीय सुषमाकी सुरम्यता तथा मनोहरता देखते हुए हमलोग आगे बढ़ते गये। काश्मीरघाटीमें हमें सर्वत्र हरे-हरे अखरोटों, सेवों तथा बादामोंके झाड़, हरे-भरे धानके खेत, सड़कके दोनों ओर पानीकी नहरें, जिनमें नाचती—तैरती शीर्षासन-सी करती बत्तखें, पानीमें खिले पीले कमल-पुष्प तथा ऊपरसे रिमझिम करती वर्षाकी फुहारें, लम्बे-चौड़े सपाट-समतल मैदान भी दीखे। अन्तर यही था कि सर्वत्र हरियाली तथा सूर्यकी तिरछी सुनहरी रश्मियोंमें कर्कशताके बदले कमनीयता और कोमलता—ये सब मिलकर एक साथ मेरे मानसपर स्वर्गीय दृश्य अङ्कित कर रहे थे।

श्रीनगरमें हम पञ्चमुखी हनुमान्‌जीके मन्दिरमें ठहरे थे। अगले दिन प्रातःकाल ही मैं अकेला ही ऊँची पहाड़ीपर बने शंकराचार्यजीके मन्दिरके दर्शन-हेतु कोई दो मीलकी सीधी चढ़ाई चढ़कर जा पहुँचा। घरसे ही इस मन्दिरके दर्शनका मनमें दृढ़ संकल्प था। कहते हैं, आजसे कोई १६०० वर्ष पूर्व महाराजा गोपादित्यने इसका निर्माण करके यहाँ विशाल शिवलिङ्गकी स्थापना की थी। तदनन्तर आठवीं शताब्दीमें राजा ललितादित्यने इसका जीर्णोद्धार किया। अब तो यहाँ आद्य शंकराचार्यकी मूर्ति भी स्थापित कर दी गयी है।

२५ जुलाईको प्रातः हम दो रुपयेका टिकट लेकर

अनन्तनागके लिये बसमें बैठ गये। वैसे श्रीनगरसे सीधे पहलगाँवतक चार रुपयेका टिकट लगता है, किंतु हमको तो मार्गमें पड़नेवाले अनन्तनाग तथा मार्तण्ड आदि तीर्थोंका भी दर्शन करना था। अनन्तनागमें पानीके अनेकों सुन्दर कुण्ड हैं। अनन्तनागको काश्मीरी मुसलमान प्रायः इस्लामाबाद ही कहते हैं। हमने यहाँ गन्धकके दो कुण्ड देखे, जिनसे रोगी आरोग्य लाभ करते हैं। यहाँ श्रीरघुनाथजी, माता दुर्गा तथा शिवजीके मन्दिर हैं। एक धर्मशालामें भोजन बना-खाकर हमलोग पैदल ही मार्तण्ड (मटन)की ओर चल पड़े। कहा जाता है कि इस तीर्थमें महर्षि कश्यपने तपस्या की थी। इस स्थानपर पानीके तीन निर्मल कुण्ड हैं, जिनके नाम क्रमशः विमलकुण्ड, कमलकुण्ड तथा गौरीकुण्ड हैं। राजतरङ्गिणीमें इस तीर्थका विस्तृत इतिहास मिलता है। पितरोंकी मुक्तिके लिये गया तीर्थके ही समान यहाँ भी लोग पिण्डदान तथा श्राद्ध आदि कर्म करते हैं। यहाँ भी सूर्यभगवान्, दुर्गा तथा श्रीरघुनाथजीके मन्दिर हैं तथा एक धर्मशाला है। एक विद्वान् सज्जनने बताया—'सारे भारतमें सूर्य (मार्तण्ड)के प्रमुख मन्दिर केवल दो ही हैं। एक यहाँ मटनमें और दूसरा उड़ीसामें कोणार्कका।' इधरके पण्डालोग अपने यजमान यात्रियोंको खूब आदरसत्कार करते हैं।

अगले दिन सुबह ही हमलोग राजा जनककी तपोभूमि ऐशमुकामकी ओर पैदल चल पड़े। ऐशमुकामके रास्तेमें हमें 'भूमजुआ' नामक स्थानपर दो गहरी लम्बी गुफाएँ मिलीं, जिनमेंसे एकमें शिव-मन्दिर भी है। ऐशमुकामसे हमलोगोंने डेढ़-डेढ़ रुपये खर्चकर पहलगाँवकी बसकी टिकट ली। बसद्वारा अत्यन्त रमणीक दृश्योंको देखते हुए जब हमलोग पहलगाँव पहुँचे तो मालूम हुआ कि सर्दी क्या होती है? मौसम एकदम ठंढा था। बाजार तो यहाँका छोटा ही है, पर पर्यटकोंका केन्द्र होनेके कारण चहल-पहल खूब रहती है। रात हमने गौरीशंकरजीके मन्दिरमें बितायी। भारी सर्दीके कारण मैं कोई घंटाभर ही सो पाया।

दूसरे दिन पौ फटते ही हम पुनः यात्रापर चल पड़े। 'पहलगाँवसे अमरनाथकी गुफा पूरे ३१ मीलपर पड़ती है। 'पिस्सू' घाटीसे आगे सर्वत्र बर्फ-ही-बर्फ देखनेको मिलती है। चन्दनवाड़ी पहलगाँवसे दस मील दूर है। यहाँकी सामूहिक यात्रा 'छड़ी'के रूपमें श्रीनगरसे श्रावण मासकी पञ्चमीको चलती है, वह पहलगाँवके पश्चात् रात्रि-विश्राम-हेतु इसी चट्टीपर रुकती है। यहाँ सरकारी धर्मशालाएँ तथा रेस्टहाउस भी हैं। छोटी-मोटी जीपका भी यहाँतक रास्ता है, पर इससे आगे घोड़ेद्वारा या पैदल चलनेके सिवा और कोई चारा नहीं है। यहाँ खाने-पीनेके लिये भी सामान मिल जाता है। लोग यहाँ पैरोंमें बर्फपर चलनेवाले जूते पहनकर, शरीरपर गर्म ऊनी वस्त्र ओढ़कर तथा उन्हें बरसातीसे खूब कसकर छड़ी टेक-टेक कर चलते हैं, परंतु जो बाबा कमलदासजी हमारे साथ थे, उनके पास न तो बिछानेको और न ही ओढ़नेको विशेष कुछ था। उनकी त्यागवृत्तिसे प्रभावित होकर हमलोग भी पैरोंमें चप्पल पहने और शरीरपर एक किरायेका कम्बल ओढ़े आगे बढ़े चले जा रहे थे। पहलगाँवसे घोड़ा १५२) रुपयेमें तथा चार आदमियोंद्वारा उठायी जानेवाली कुर्सी एक हजार रुपयेमें ठेठ अमरनाथतकके लिये मिल जाती है। प्रायः गृहस्थलोग इन दो ही साधनोंसे अमरनाथतक पहुँच पाते हैं। रात बितानेके लिये लोग चन्दनवाड़ीमें ही रुक जाते हैं। यहाँसे शेषनागकी चट्टी आठ मील दूर है। बीचमें पिस्सूघाटीकी कमरतोड़ चढ़ाई है। ११२० फिट ऊँची इस चोटीपर धीरे-धीरे पहुँचकर हमलोगोंने विश्राम किया और पुनः आगे बढ़े। यहाँके पहाड़ इतने घने हैं कि सूर्यदेवताके दर्शन कदाचित् ही होते हों; पेड़-पौधे नामकी भी कोई चीज देखनेको नहीं मिलती। हाँ, यहाँ या तो बर्फ या फिर हरियाली-ही-हरियाली देखनेको मिलती है। कहते हैं कि यहाँ एक ऐसी मीठी घास होती है, जिसे घोड़े अधिक चर जाते हैं और कभी-कभी तो वे इस प्रकार पेट फूलनेसे मर भी जाते हैं। इस स्थानपर पैदा होनेवाली ऐसी विषैली जड़ी-बूटियोंकी बात भी हमें एक व्यक्तिने बतायी, जिनको सूँघनेमात्रसे ही आदमी मूर्च्छित हो जाता है।

इधर पगडंडीके साथ-साथ एक गहरा बर्फीला नाला, जो पहलगाँवतक जाता है, देखनेको बराबर मिलता रहा। नालेमें कोई बीस फिट गहरी बर्फकी सतह देखनेको मिलती है, जिसके नीचेसे होकर पानी तीव्र वेगसे बहता रहता है। तरह-तरहके लाल, पीले, नीले तथा जामुनी आदि सतरंगी फूलोंसे अमरनाथ-

तककी सारी घाटी भरी पड़ी है। हमलोग प्रकृतिका आनन्द लेते जैसे-तैसे साहस कर जब जोगीपाल पहुँचे तो मेरी हिम्मत जवाब दे गयी। बाबा भी हाँफने लगे थे। शेषनाग इस स्थानसे तीन मील दूर रह जाता था। वहाँ लोगोंने टैंटोंमें होटल लगा रखे हैं और सरकारद्वारा निर्मित तीन धर्मशालाएँ भी हैं। रात हमने एक धर्मशालामें बितायी। फिर प्रातः नित्यकर्मसे निवृत्त हो अपना-अपना सामान बाँधकर हमलोग आगेके लिये चल पड़े। पगडंडी कई जगह टूटी मिली। संयोगवश यदि कोई यात्री फिसले तो नालेकी बर्फमें या पानीके बर्फीले वेगमें पड़कर मौतसे बचनेकी कोई आशा नहीं की जा सकती।

२८ जुलाई बुधवारका दिन हमारे लिये शुभ रहा; क्योंकि घाटियोंमें यत्र-तत्र सूर्य-रश्मियाँ बिखरने लगी थीं। हर जगह बर्फसे निकलते झरने तो हमें मिलते ही जाते थे, पर पानी बर्फ-सा ठंडा था। नित्यकर्मके बाद फिर हमलोग धीरे-धीरे चलते भी रहे और आध्यात्मिक चर्चा भी करते रहे। शेषनागके समीप पहुँचे, तो मानसरोवर-सी नीली, पवित्र तथा मनोरम एक झील देखनेको मिली। एक जगह आधा फर्लांग बर्फ पार करके हम इस चट्टीपर पहुँचे। घंटाभर विश्राम किया, फिर हमने अगले पड़ाव पञ्चतरणीके लिये प्रस्थान कर दिया, जो शेषनागसे पूरे आठ मील दूर पड़ती है। मार्गमें वेबवैल टाप तथा महागुणास टाप पार करनी पड़ती हैं, जिनकी ऊँचाई क्रमशः १३५०० फीट तथा १४५०० फीट है। महागुणासकी चोटी अमरनाथजीके रास्तेमें पड़नेवाली सबसे ऊँची चोटी है। इसके आगे-पीछे सर्वत्र बर्फ-ही-बर्फ दिखायी देती है। इस चोटीपर काली मिट्टीका छोटा-सा समतल मैदान भी है। इस चोटीसे आगे पञ्चतरणीका सारा रास्ता उतराईका है।

कोई मीलभरकी उतराई उतर कर हमने फूलोंसे भरी चरागाह 'पोशपाथर'में विश्राम किया। यहाँतक सरकारी धर्मशाला है। मनमें संतुष्टि थी कि पञ्चतरणी चार मील ही रह गयी है। थोड़ा विश्राम कर हमलोग धीरे-धीरे चल पड़े। कई स्थानोंपर लकड़ीके पुलोंको पार करते हुए शामके चार बजे उस स्थानपर पहुँच गये, जहाँ छोटी-छोटी पाँच सरिताओं-के बहनेके कारण इसका नामकरण पञ्चतरणी हुआ है। रात हमने एक धर्मशालामें काटी। तम्बुओंमें कुछ लोगोंने होटल लगा रखे थे, पर भोजन इतना महँगा था कि छः रुपयेमें भी पूरा पेट नहीं भरा जा सकता था।

२९ जुलाईको सुबह आठ बजे 'अमरनाथकी जय' कहकर हमलोग चल दिये बाबा अमरनाथके दर्शन करने। पञ्चतरणीसे पवित्र गुफा सिर्फ चार मीलके फासलेपर है। रास्ता दो मील चढ़ाईका और दो ही मील उतराईका है। गुफा भी चढ़ाईपर है। जगह-जगह बर्फसे निकलते झरने अत्यन्त मनोरम लग रहे थे।

धीरे-धीरे दो मीलकी चढ़ाई चढ़कर हमलोग १३५०० फीट ऊँची 'संतसिंह चोटी'पर पहुँचे। चढ़ाई चढ़ते समय यात्रियोंका उत्साह बनाये रखनेहेतु पहलगाँवसे लेकर अमरनाथ-तक जगह-जगह सार्वजनिक सेवा-विभागने अंग्रेजीभाषामें उत्साहवर्धक वाक्य लिखा रक्खे हैं।

संतसिंह टापसे उतरते हुए मैंने एक मार्ग और देखा। पूछनेपर पता चला कि सोनामार्गके इस रास्तेसे अमरनाथ श्रीनगरसे केवल २२ मीलपर पड़ता है। जिस पगडंडीपर मैं चल रहा था, उसकी बाँयीं ओरकी घाटीमें सर्वत्र बर्फ-ही-बर्फ दृष्टिगोचर हो रही थी। एक पहाड़ी नाला भी बर्फपर चलकर पार करना पड़ता था। तत्पश्चात् कोई तीन जगह फर्लांग-फर्लांगभर बर्फ पारकर जब हमलोग अमरनाथ-गुफाके चरणोंमें पहुँचे तो मन प्रसन्न हो गया। १३५०० फीटकी ऊँचाईपर स्थित इस लम्बी-चौड़ी गुफाको देखकर मनमयूर नाच उठा। गुफाके बाहर दोहरा जँगला है। मार्गमें संगमरमरकी तरह सफेद पत्थर हैं। गुफाके दायें किनारेपर ऊपरसे गिरती निर्झर-रूपा अमरगङ्गाका अवलोकन कर मैंने अपनेको धन्य माना। कोई दो फर्लांगकी सीधी चढ़ाई चढ़कर मैंने गुफाके अंदर प्रवेश किया। मुझे कौतूहल था, यह देखनेका कि गुफाके अंदर बर्फका प्राकृतिक शिवलिङ्ग कैसे बन जाता है? अंदर जाकर पाया कि मेरे दायें किनारे भव्य, दिव्य, श्वेत हिमका पहाड़की छतको छूता कोई २६ फुट ऊँचा शिवलिङ्ग प्रत्यक्षरूपमें यात्रियोंकी मनोकामना पूर्ण करनेहेतु स्थित हैं। बायें किनारे और भी दो-तीन छोटे-छोटे लिङ्ग बने थे, जिन्हें पार्वती, गणेश एवं नन्दी आदिका बताया जाता है। श्रद्धाभावसे प्रणाम कर जब मैं बाहर आया तो एक जोड़ा कबूतर तथा कुछ मैनाएँ उड़ती दीखीं। यात्री कह रहे थे कि कबूतरोंका जोड़ा न जाने कबसे इसी प्रकार पट खुलनेके दिनसे ही आ उपस्थित होता है। कई लोग तो इन्हें अमरपक्षी बताते हैं, जो शिवद्वारा पार्वतीके प्रति वर्णित अमरकथाको श्रवण कर अमर हो गये हैं।

जो हो, अमरनाथजीकी सीढ़ियाँ खटाखट उतरता मैं सीधे पञ्चतरणीकी ओर चल दिया। रास्तेकी धूल उठायी तो पूरी शिवकी विभूति-सी प्रतीत हुई। इसे शिव-प्रसाद समझकर मैंने पोटलीमें बाँध लिया। आगे-पीछेका सारा रास्ता भी कर्पूरगौर शंकरके गौर शरीर-सा उद्भासित हो रहा था। रास्तेमें एक मुसल्मान सज्जनने कहा—'हम मुसल्मान भी इनको मानते हैं। इन्हें हम 'जर्त' कहकर सम्बोधित करते हैं।' रुपयेमें चार आना चढ़ौती अभी भी उसके वंशज लेते हैं, बाकीकी मटन (मार्तण्ड)के पण्डाको जाती है। उस मुसल्मान भाईसे विदा लेकर मैं आगेको चला। रास्तेभर सारे संसारकी धार्मिकता एवं आध्यात्मिकताके गुरु भगवान् शिवका यह दिव्य शिवलिङ्ग मेरे मानसचक्षुओंके समक्ष आता रहा।

उस दिन अर्थात् शुक्रवारको मैं कोई दो बजे वापस पञ्चतरणी पहुँच गया था। यहाँ थोड़ी देर विश्राम किया। आगे केवल एक जगह मीलभरकी चढ़ाई थी, शेष रास्ता उतराईका था; इसलिये धीरे-धीरे चलता हुआ मैं रातके आठ बजे शेषनाग पहुँच गया। कोई पाँच जगह बर्फ पार करनी पड़ी। यहाँ रात एक टेंटमें गुजारी। प्रातः दातुन आदिसे निवृत्त होकर तथा एक प्याला चाय पीकर मैं पहलगाँवकी ओर चला। रास्ता उतराईका होनेके कारण तीव्र गतिसे चलता हुआ १२ बजे चन्दनवाड़ी पहुँच गया। एक घंटा विश्राम कर दस मीलका रास्ता तय करता हुआ कोई दो बजे पहलगाँव पहुँच गया। हृदयमें बड़ा संतोष था कि जिस यात्राको यात्री भारी-भारी ऊनी वस्त्रोंमें लिपटकर तथा गर्म विस्तरोंमें सिकुड़कर पहलगाँवसे कोई छः दिनोंमें पूरा कर पाता है, उसे तीन दिनमें ही मैंने शिवजीकी कृपासे पूरा कर लिया। यहाँ किरायेका कम्बल वापस किया और फिर अनन्तनागके लिये बसमें बैठ गया। वैसे लोग वापसीपर भी पहलगाँवसे सीधे श्रीनगर चले जाते हैं, क्योंकि यहाँसे बसें जम्मूतकके लिये आरक्षित हो जाती हैं, यदि बीचमें कहीं मोटरपर बैठिये तो भी किराया पूरा ही लगता है। भगवान् शंकरकी कृपासे इस प्रकार मेरी यह चिरअभिलषित अमरनाथकी यात्रा पूरी हुई।

लेते हैं तो कसके

(लेखक—डॉ० श्रीहजारीप्रसादजी द्विवेदी)

मैं चुपचाप तबतक बैठा रहा, जबतक वे फिर लौटकर नहीं आयीं। अलहनाके लिये व्यवस्था करनेमें उन्हें थोड़ा विलम्ब हुआ। मैंने इस अवसरका लाभ उठाकर जी भरकर युगल-मूर्तिको देखा। दूरसे जैसा समझा था, वैसी मूर्ति यह नहीं थी। मैंने त्रिभङ्गी मूर्तिका अनुमान किया था, पर यह मूर्ति किसी भी साम्प्रदायिक परिपाटीपर बनी हुई नहीं जान पड़ती थी। वस्तुतः इसे मूर्ति कहा ही नहीं जा सकता था। किसी अत्यन्त मुलायम शिलाखण्डपर बड़े ही सावधान हाथोंने इसे उत्कीर्ण किया था। मेघोपम श्रीकृष्णकी गोदमें विद्युद्-गौरी किशोरी राधा अस्त-व्यस्त-भावसे पड़ी हुई थीं और उसकी पृष्ठभूमिमें गगन भी उसी प्रकार रमणीय मेघों और विद्युत्-शिखासे वलयित उत्कीर्ण था। नीचेकी ओर यमुनाकी कल्लोलवती धारा और उसके तट-पर लुढ़का हुआ एक घड़ा अङ्कित था। मैंने ध्यानसे उत्कीर्ण मूर्तिको देखा और समझनेका प्रयत्न किया। मूर्तिके तलदेशमें उभरे हुए अक्षरोंमें एक श्लोक भी उत्कीर्ण था। उस श्लोकने मूर्तिका अर्थ और उद्देश्य स्पष्ट कर दिया। लिखा था—

गताहं कालिन्दीं गृहसलिलमानेतुमनसा
घनोद्घूर्णैर्मेघैर्गगनमभितो मेदुरमभूत्।
भृशं धारासारैरपतमसहाया क्षितितले
जयत्वङ्के गृह्णन् पटुनटकलः कोऽपि चपलः॥

अब सारा भाव स्पष्ट हो गया। असहाय-भावसे गिरती हुई मुग्धा किशोरीकी आँखें ऐसा बहुत-कुछ कह रही थीं, जो श्लोकमें नहीं अँट सका। उसमें कातर कृतार्थताका भाव था। श्लोकमें जो 'पटुनटकल' शब्द है, वह चित्रके श्रीकृष्ण-की मूर्तिमें थोड़ी-सी रेखाओंकी वक्रतासे खिल उठा था। ऐसा जान पड़ता था, जैसे अभी-अभी वे कहींसे कूदकर आ गये हैं। उत्तरीयका छोर, जो हवामें ऊपर उड़ चुका था, नीचेकी ओर झुकता हुआ अङ्कित था और मयूरपिच्छके मुकुटमें भी कुछ उसी भावकी वक्रता थी। नटनागर श्रीकृष्णकी आँखोंमें उत्सुकता थी। किशोरीकी झुकी आँखोंमें

घुसकर वे पूछ रही थीं—चोट तो नहीं लगी है ? परंतु सबसे अद्भुत भाव 'चपलः' पदका था। किशोरीने केवल चतुर कलाबाज श्रीकृष्णकी स्फूर्ति ही नहीं देखी, कोई चपल भाव भी देखा था। श्लोक केवल इङ्गित करके रह गया था। केवल 'जयतु' पद घोषित कर रहा था कि मुग्धा किशोरी इस चपलतासे कृतकृत्य हो गयी थी। उत्कीर्ण मूर्तिमें श्रीकृष्णके अधरोंपर एक चञ्चल स्मित-रेखाके द्वारा सारे चपलभावको मूर्तिमान् कर दिया गया था। कविने शिल्पीको और शिल्पीने कविको निखार दिया था। कैसी अपूर्व कला थी !

मैं मुग्धभावसे इस मनोहर शिल्प-कौशलको देख रहा था। ऐसे आराध्यकी आराधिका 'नटी-माता' किस भावसे भजन करती हैं ? मुझे कोई संदेह नहीं रहा कि उनका जल ले आना सांसारिक कार्योंका उपलक्षण-मात्र है। भगवान्के प्रति वे प्रीति-स्निग्ध-भावसे आकृष्ट हैं। यहाँ सहायता करनेवाला सहायता करके अपनेको कृतकृत्य अनुभव कर रहा है और सहायता पानेवाली सहायता पाकर अपने-आपको कृतार्थ अनुभव कर रही है। भगवान्का यह मधुररूप कितना महनीय है ! इसमें एकान्त दैन्यभाव भी नहीं है और बिलकुल उसका अभाव भी नहीं है। मैं गद्गद भावसे देखता रहा—मुग्ध, चकित, अवाक्। अचानक मेरी दृष्टि कोनेमें छोटे-छोटे अक्षरोंमें उभरे नामकी ओर गयी। नाम था-'नागर-नटी'। यह क्या रूपका नाम है या रूपकारका ? मैं एक बार शिल्पकी चारुता भूलकर शिल्पकारकी चारुतामें उलझ गया। नागर-नटी ! क्या तात्पर्य हो सकता है, भला !

इसी समय नटी माता पधारीं। मुझे मूर्तिमें उलझा देखकर वे एक क्षणके लिये ठिठक गयीं। फिर स्फुट-मधुर वाणीमें बोलीं, 'प्रसाद ग्रहण कर लो, महाराज !'

ऐसा जान पड़ा—किसीने रेशमकी कोमल, किंतु सारवती रश्मियोंसे बाँधकर मेरी दृष्टिको एकाएक खींच लिया हो। कुछ झेंपते हुए बोला—'अपराध क्षमा हो माताजी, बड़ी मनोहर मूर्ति है। मैं इसके बारेमें कुछ अधिक जाननेका प्रसाद पाना चाहता हूँ।'

नटी माताने दुलारके साथ कहा, 'सब जान लेना, किंतु आराध्यका प्रसाद पहले ग्रहण करो, आराधिकाका प्रसाद बादमें ग्रहण करनेकी अभिलाषा करो।' ऐसा कहकर वे हँस पड़ीं।

अधिक देर करना उचित न था। मैंने शान्तभावसे प्रसाद ग्रहण किया। अत्यन्त साधारण-से पदार्थोंमें पवित्रता और गरिमाका अपूर्व और असाधारण रस भरा था। नटी माता हाथमें ताल-व्यजन लेकर धीरे-धीरे झल रही थीं और निपुणभावसे देख रही थीं कि मैं कितनी तृप्तिसे प्रसाद पा रहा हूँ। उनकी दृष्टि परितृप्त लग रही थी।

कुछ देरतक मौन रहकर वे स्वयं बोलीं, 'मूर्तिके बारेमें जानना चाहते हो, महाराज ?'

मैंने मौन स्वीकृति दी। उन्होंने बिना भूमिकाके उत्तर दिया, 'मूर्तिकी कहानी तो मेरी ही कहानी हो जायगी और वह लम्बी होगी। तुम रानीके बारेमें इस समय उत्सुक हो। उनसे तुम्हें मिलाना है, इसलिये फिर कभी सुचित्त-भावसे इस चर्चाको उठाऊँगी। संक्षेपमें महाराज, इतना समझ लो कि बहुत भटकनेके बाद मुझे इनका संधान मिला है। मेरे भावोंने ही इस विभाव-पुरुषकी कल्पना की है। भाव यदि सत्य हों तो अभाव स्पष्ट हो जाते हैं और सारे अभावोंको भरकर यह विभाव-पुरुष अपना रूप परिग्रह करते हैं। ऐसा लगता है कि बहुत भटकनेके बाद मेरे मनमें इन विभाव-पुरुषने जैसा रूप परिग्रह किया है, वही मेरी चरितार्थता है।'

मैंने बीचमें ही टोककर पूछा, 'मूर्ति क्या आपने ही बनायी है, माताजी ?'

माताजीने शान्त-भावसे कहा—'ये जो चाहते हैं, करा लेते हैं। इनका मन रखना बड़ा कठिन है। जिसके लिये मचल गये, वह वस्तु मिल ही जानी चाहिये, तत्काल ! अपना मन रखाते हैं, दूसरेके पूरे मनपर अधिकार करके। जरा भी मन इधर-उधर गया कि पारा चढ़ा ! मान तो ऐसा जैसे कि नाकका फोड़ा।'

माताजी कुछ भाव-गद्गद अवस्थामें पहुँच गयी थीं। मैंने बीचहीमें टोक दिया। पूछा, 'यह श्लोक, माताजी ?'

उन्हें झटका लगा, बोलीं, 'कह तो दिया बेटा, जो चाहते हैं, करा लेते हैं। रानीको इन्होंने ही यहाँ बुला लिया, नहीं तो इस निर्धन कुटियाकी क्या हिम्मत कि राजराजेश्वरीको आश्रय देनेकी स्पर्धा करे। रानी भी बहुत भटक गयी थीं महाराज ! इन्होंने चरणोंमें आश्रय दे दिया है। तुम भी यदि रानीको पाना चाहते हो तो इनके प्रसादके रूपमें ही ग्रहण करो। एक बार यदि तुम इन्हें प्रसादके रूपमें स्वीकार

कर सको तो कोई चिन्ता नहीं रहेगी। हाँ बेटा! ये ही सब कुछ देते हैं, जिसे हम भला समझते हैं, उसे भी और जिसे बुरा समझते हैं, उसे भी। भला-बुरा, दुःख-सुख तो भटके हुए चित्तका विकल्पमात्र है।'

थोड़ा रुककर बोलीं, बहुत बड़े कामका संकल्प तुमने किया है बेटा! उसके लिये आवश्यक है कि उस महान् संकल्पका आश्रयीभूत चित्त इनके चरणोंमें चढ़ा दो। गलत न समझना। अनुकरण करनेको नहीं कह रही हूँ। भाव तुम्हारा अपना होगा, विभाव-पुरुष भी तदनुसार नया रूप परिग्रह करेगा। ये तो भावके भूखे हैं—सच्चे भावके। मामूली फल-मूल भी यदि थोड़ा भी अपवित्र, गंदा या कुत्सित हो तो रूठ जाते हैं, फिर चित्त तो बहुत बड़ी वस्तु है। सचाई और ईमानदारीसे धोकर शील और मैत्रीसे सुवासित करके दो तो लेंगे। लेते हैं तो कसके लेते हैं, नहीं लेते, तो ताकतेतक नहीं।'

मैं माताजीकी बात समझनेका प्रयत्न कर रहा था, समझ नहीं पा रहा था। पर ऐसा लग रहा था कि अन्तस्तल-के अतल गाम्भीर्यसे कोई कह रहा है कि यही सत्य है, यही काम्य है, यही सब कुछ है। उन वाक्योंका प्रभाव पवित्र मन्त्रके समान अन्तरतरके सुकुमार तन्तुओंको आन्दोलित कर रहा था।

कुछ देर मौन रहनेके बाद मैंने पूछा, यह 'नागर-नटी' क्या है माताजी?

वे हँसीं, बोलीं, 'मैं ही तो हूँ। इस नागर-नटकी नटी हूँ बेटा! लोग पूछते हैं कि तुम्हारा नाम क्या है? क्या कहूँ? लोकमें नाम तो था, किंतु कहनेमें लज्जा मालूम होती है। भ्रान्त कार्य-परम्पराका स्मारक ही तो है वह नाम। मैंने गुरुकी आज्ञासे यही नाम ले लिया है; नागरनटी संक्षेपमें 'नटी'; आदि उनका, अन्त मेरा! इस नामसे जीवन कृतार्थ हो गया जान पड़ता है।

अब नामका रहस्य समझमें आया। आदि उनका, अन्त मेरा! समर्पणका क्रम नामसे ही शुरू हुआ है।

थोड़ी देर मौन रहनेके बाद माताजीने कहा, चलो, रानीसे मिला दूँ। अभी पूर्ण स्वस्थ नहीं हैं, अवसर-की प्रतीक्षा करनी होगी। चलो, पासहीके घरमें हैं। भूलना मत बेटा, भगवान्‌के प्रसादके रूपमें ही उन्हें ग्रहण करना। मैं उन्हें यही सिखा रही हूँ और तुम्हें भी सिखा रही हूँ।

माताजी उठीं और उनके साथ एक पूरा अनुभाव-मण्डल उठ पड़ा। मेरी चकित आँखोंने आराध्यकी ओर देखकर प्रश्न किया, अर्थात्?

ग्रहणशक्तिका विकास

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

ग्राह्य वस्तुएँ एवं बातें तो अनन्त हैं, पर मानव अपनी ग्रहणशक्तिकी योग्यताके अनुसार ही उन्हें ग्रहण कर सकता है। हम प्रति समय अनेक बातें सुनते, देखते एवं उनका अनुभव करते हैं और अनेक वस्तुओं एवं व्यक्तियोंसे हमारा सम्बन्ध होता है। जीवन-में कई घटनाएँ घटती रहती हैं, यदि ग्रहण-शक्ति हो तो प्रत्येकसे कुछ-न-कुछ शिक्षा ग्रहण की जा सकती है। हम अनेक बातें सुनते हैं, पर उन्हें ठीक तरहसे समझने-की योग्यता बढ़ानी पड़ेगी, ध्यानसे सुनकर उनपर विचार करना होगा। कहनेवालेसे पूछकर एवं विशेष स्पष्टीकरण कर शंकाओंका समाधान करना होगा। बहुत बाद हमारा ध्यान इधर-उधर होनेसे हम किसीकी कही हुई बातें समझते नहीं और सुनकर भी अनसुनी कर देते हैं—कुछ ग्रहण नहीं कर पाते। इसलिये हमें प्रत्येक वस्तु एवं बातको अच्छी तरह समझनेके लिये मनकी एकाग्रता बढ़ानी होगी। बिखरे हुए मनको केन्द्रित करना होगा। कई बार जब हमारा मन किसी बातमें नहीं लगता, ऊब जाता है; उस समय अनुभूत घटनाओं-से हम तनिक भी लाभ नहीं उठा सकते। इसलिये हमें मनको समझाकर उसमें रस उत्पन्न करनेका अभ्यास प्रयत्नपूर्वक करना होगा,- अर्थात् ठीकसे काम न कर पानेके बाधकोंको जानकर उन्हें हटाना

होगा और ग्रहणशक्तिको बढ़ानेवाले उपायोंका अवलम्बन करना होगा। बिजलीघरसे करेंट सर्वत्र समानरूपसे पूर्ति होती है, पर बल्बमें जितनी शक्ति है, तदनुरूप ही प्रकाश होता है। इसी प्रकार ग्रहणशक्तिके अनुरूप ही ग्रहण होता है।

एक ही ग्रन्थको पढ़ने एवं व्याख्यानादि सुननेवाले अनेक व्यक्तियोंमेंसे कुछ एक तो उससे लाभ उठाते हैं, पर दूसरे व्यक्ति कुछ भी लाभ उठा नहीं पाते या बहुत थोड़ा ही लाभ उठा पाते हैं। यह सब ग्रहणशक्तिके अन्तरके कारण ही होता है। ग्रहणशक्तिवाला सब कहींसे कुछ-न-कुछ बोध प्राप्त कर लेगा। चुम्बकको जहाँ भी लोहेके परमाणु मिलेंगे, तुरंत खींच लेगा, अन्य परमाणु नहीं। जैसे जिसकी योग्यता होती है, ग्रहण तदनुरूप ही होगा।

ग्रहणशक्तिको बढ़ानेके लिये योग्यताका विकास करना होगा। उसके योग्य भूमि तैयार करनी होगी, तभी उसमें डाले हुए बीज पड़े हुए पानीसे अङ्कुर-रूपमें फूट निकलेंगे। अन्यथा बीज नष्ट हो जायगा। उसी प्रकार अपनी क्षमता-भूमिका योग्य नहीं हुई तो कही-सुनी सारी बातें कुछ भी असर न डालेंगी; व्यर्थ चली जायँगी। दर्पणके स्वच्छ होनेसे ही वस्तुओंका रूप—आकारादि उसमें ठीकसे प्रतिबिम्बित हो सकेगा, अन्यथा नहीं।

चित्र बनानेके लिये भूमिका पहलेसे तैयार होती है। खुरदुरी, ऊबड़-खाबड़ अस्वच्छ भूमि या वस्तुपर कभी भी सुन्दर चित्र तैयार न हो सकेंगे। इसी तरह अपनी योग्यता, आत्म-निर्मलता जबतक नहीं होगी, तबतक ग्राहकता योग्य दिशामें बढ़ नहीं सकेगी। एक ही घटना एवं अवस्थासे एक व्यक्ति अच्छी बातें ग्रहण कर आत्मोन्नति कर सकता है, दूसरा उसीसे विपरीत बातें ग्रहणकर पतनकी ओर प्रवृत्त हो सकता है; क्योंकि यह आत्माकी कलुषितता एवं निर्मलतापर ही निर्भर है। शुद्ध आत्मा बुरेको भी भलेरूपमें ग्रहण करती है और अशुद्धात्मा भलेको भी बुरे रूपमें।

अपनी मानसिक आध्यात्मिक स्थितिके कारण ग्रहणमें अन्तर पड़नेका मैंने स्वयं अनुभव किया है। कुछ वर्ष पहले मुझे आध्यात्मिक ग्रन्थोंके वाक्यों एवं पदोंमें अत्यधिक आनन्द मिलता था, मैं आत्म-विभोर हो जाता था, पर अब साहित्यिक कार्योंमें अधिक संलग्न रहनेसे मन इसीमें अभ्यस्त हो गया। फलतः उन्हीं ग्रन्थों, वाक्यों और पदोंमें उतने आनन्दका अब अनुभव नहीं होता। इसका कारण अपनी आन्तरिक स्थितिमें परिवर्तन ही है। अब मैं अपनी स्थितिमें महान् अन्तरका अनुभव कर रहा हूँ। कभी मेरे लिये साहित्यिक कार्य प्रधान थे, तब भजनकी कमीसे भावोंकी गहराई उतनी नहीं होती थी, जितनी अब इस समय। अध्ययन कम करके मनन अधिक करनेसे नित्य कई अनुभूतियाँ हो रही हैं, नये भाव उदित होते रहते हैं। अनुभवोंकी गहराई प्रतीत होती है। देखने-सुनने और अध्ययनका क्रम पहले-जैसा ही है, पर तब और अबकी क्रिया समान होनेपर भी फलमें बहुत अन्तर प्रतीत हो रहा है। प्रकृत योगी सब बातोंमें तटस्थ रहता है। यह तो आत्मानुभूतिकी गहराईके कारण है। प्रस्तुत लेखका निष्कर्ष यह है कि फलकी प्राप्ति ग्रहणकी योग्यताके अनुसार ही होती है। मनुष्य योग्यता-अर्जनका प्रयास नहीं करता और फलके लिये आतुर रहता है, पर वह मिले कहाँसे ? योग्यताका विकास कुछ प्रकृतिप्रदत्त होता है, पर उसे तो बहुत-कुछ श्रम एवं प्रयत्नसे भी बढ़ाया जा सकता है। जैसी शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक एवं आत्मिक स्थिति होगी, ग्रहण तदनुरूप ही होगा। अतः अपनी बुद्धि, मन और आत्माको निर्मल बनाइये और चिंतनकी प्रवृत्ति तथा मनकी एकाग्रता बढ़ाकर अपने सम्मुख होनेवाली प्रत्येक घटना तथा विद्यमान वस्तुओंसे भाव एवं शिक्षा ग्रहण कीजिये। उन्नत एवं महान् बननेका यही राजमार्ग है।

मैं पूर्ण समर्थ हूँ

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

आप जिन विचारोंको हृदयके गहनतलसे मानते हैं, जिन अच्छी या बुरी भावनाओंमें निरन्तर विचरण करते हैं, जिन विचारोंके सत्सङ्गमें रहते हैं, वे देरतक मानस-प्रदेशमें रहनेके कारण आपके गुप्त मनके एक भाग बन जाते हैं। प्रत्येक तीव्र और दृढ़ विचार मस्तिष्कमें एक लकीर-सी पैदा करता है। बार-बार एक ही विचारको पूरे विश्वासके साथ दुहरानेसे वही हमारे मस्तिष्कका एक अविच्छिन्न भाग बन जाता है। विचारोंको देरतक स्थिर रखनेसे वे हमारे स्थायी संस्कार बन जाते हैं। आपका मस्तिष्क जैसा आपके पास आज है, वह बहुत-से पूर्व संचित विचारोंका समूह है। जैसा स्थायी विचार होता है, वैसा ही हमारा आन्तरिक जगत् बनता है।

हमारे मस्तिष्कका निर्माण हमारी गुप्त और दृढ़ मान्यताओंके अनुसार होता है। हमारे मस्तिष्कमें जो भी ज्ञान, संकल्प, विश्वास, मान्यता या शक्ति है, हम जो कुछ जीवनमें पाते हैं, वह सब ज्ञान हमारे विचारोंके द्वारसे ही आता है। और आगे चलकर अधिक देरतक टिकनेके कारण उन्हीं दृढ़ और पुष्ट विचारोंके अनुरूप ढल जाता है। दृढ़ और पुष्ट विचार हमारे जीवनका निर्माण करते हैं।

विचारोंसे ही भावनाएँ बनती हैं। जिन शुभ-अशुभ भावनाओंमें हम जीते हैं, वे ही हमारे जीवनका निर्माण करनेवाली अदृश्य गुप्त शक्तियाँ हैं। उन्नत विचारोंको मनमें रखनेसे बढ़कर संसारमें कोई सत्सङ्ग नहीं है। शुभ विचारोंमें ही जीवनको ढालनेकी शक्ति है। हम चाहें तो उत्तम विचारोंको मनमें रखकर सत्सङ्गका लाभ उठा सकते हैं। फिर इन विचारोंको क्रियाओं (Actions)में बदलना होगा। पहले विचार, फिर तदनुरूप क्रिया—यही उन्नतिका नियम है। अच्छे विचारसे ही अच्छे कार्यका जन्म होता है। विचार और क्रियाका संतुलन ही उन्नति है।

अतः उत्तम जीवन बनानेके लिये यह आवश्यक है कि हम प्रतिदिन कुछ समयके लिये उत्तम स्वस्थ विचारोंमें विचरण करें। उन्हें पूर्ण आत्मविश्वासके साथ दैनिक प्रार्थनामें उच्चारण किया करें। जिन्हें हम कहते हैं, फिर उन्हें हम करने भी लगते हैं। भव्य विचारोंसे सुप्त मनका नव-निर्माण हो सकता है, जड़ताकी जगह वैचारिक गतिशीलता आ सकती है। जीवनका जो भी क्षेत्र चुना जाय, सही विचार और उसके अनुसार क्रिया करनेसे नया परिवर्तन आ सकता है।

हमारा मन उर्वरा भूमिकी तरह है। इसमें हम जैसे विचार बोयेंगे, क्रियाके रूपमें वैसी ही फसल काटेंगे। यदि हम रोग, शोक, दुःख, निराशा, कमजोरीके झाड़-झंखाड़ बोयेंगे, तो निश्चय ही हमारा जीवन दुःखमय बनेगा। दूसरी ओर यदि हम आशा, उत्साह, साहस और पौरुषके विचार जमायेंगे तो हमारे दैनिक कार्य, व्यवहार, आचरण आदि भी उन्नतिशील होंगे। अच्छे विचारोंसे उत्तम निर्माणकारी परमाणु आकर्षित होकर हमारी शक्तिको बढ़ायेंगे। अतः रात्रिमें सोनेसे पूर्व उत्तम सृजनकारी विचारोंपर मनको एकाग्र कर शयन करना चाहिये। रात्रिभर पवित्र विचारोंके वातावरणमें रहनेसे दूसरे दिनके कार्य उत्तम होंगे। ये कार्य हमारी उत्कृष्टता प्रमाणित करेंगे।

अतः नीचे लिखे विचारोंको पूरे आत्मविश्वाससे प्रतिरात्रि दस मिनटके लिये दुहराइये और इस प्रकार अपने गुप्त मनमें पौरुषके वातावरणका निर्माण कीजिये—

'मैं व्यक्त मनका उत्साह हूँ।'

'मैं उदार-हृदयका स्वस्थ हास हूँ।'

'मैं सागर-तटका उन्मुक्त समीर हूँ।'

'मैं हर प्रकार पूर्ण समर्थ हूँ ।'
'मैं नदियोंका निरन्तर वहनेवाला प्रवाह हूँ ।'
'मैं छोटे नालोंका मधुर संगीत हूँ ।'
'मैं हिमावृत शैलोंका शिखर हूँ ।'
'मैं प्रकृतिकी स्वस्थ और नीरोग श्वास हूँ ।'
'मैं सशक्त तेजोमय प्राण हूँ ।'
'मैं अमरताका अमर प्रमाण हूँ ।'

ऊपर लिखे विचारोंको कार्यरूपमें परिणत करनेका ध्यान रखिये । आपका प्रत्येक उत्तम विचार कार्योंमें बदलकर जगत्में आना चाहिये । केवल सोचते ही मत रहिये, अपने पवित्र विचारोंको व्यवहारमें जन्म भी दीजिये; दैनिक कार्योंमें प्रकट कीजिये । उन्नतिशील विचारोंको कार्योंमें जन्म देनेके अतिरिक्त उन्नतिका दूसरा कोई राजमार्ग नहीं है ।

सफल आदमी बोलता कम है, काम अधिक करता है । उन्हीं विचारोंका महत्त्व है, जो दैनिक व्यवहारमें स्पष्ट होते रहें । लोग अवसर न मिलनेका रोना रोते रहते हैं, जब कि वे अपने उन्नतिशील विचारोंपर अमल करके सैकड़ों नये अवसर खुद निकाल सकते हैं ।

सच मानिये, यदि आप अपने शुभ विचारोंको कार्यरूपमें परिणत कर सकते हैं तो आप हर काम करनेमें पूर्ण समर्थ हैं ।

पागलकी झोली

(लेखक—महात्मा श्रीसीतारामदास ओंकारनाथजी महाराज)

हरि—तो 'इस समय जो संन्यासी लोकहितकर कार्य करते हैं', वे कुछ भी नहीं करते हैं',—यह कहना चाहते हो ?

क्षेपा—राम राम सीताराम ! जय जय राम ! सीताराम ! हम तो उनके चरणोंमें कोटि-कोटि प्रणाम करते हैं । वे बहुत ही अच्छा काम कर रहे हैं । उनसे एकान्तमें पूछकर देखो, वे 'हम तृप्त हैं'—यह बात नहीं कहेंगे । राम राम सीताराम ! जय जय राम सीताराम !

हरि—अच्छा, अब बतलाओ; भागवत कहता है—कृष्ण बड़े हैं, शिवपुराण कहता है, शिव बड़े हैं, देवीभागवत कहता है, देवी बड़ी हैं; इनमेंसे कौन बड़ा है ? इस सम्बन्धमें तुमने क्या समझा है ?

क्षेपा—राम राम सीताराम ! पुराणोंमें एक देवताको बड़ा बताकर दूसरेको छोटा बतलानेका उद्देश्य अपने इष्ट देवताके प्रति अनन्य निष्ठा लाना ही है ।

हरि—बातको समझा कर कहो ।

क्षेपा—राम राम सीताराम ! जैसे कि भागवतमें विष्णु और उनके अवतार कृष्णको बड़ा कहा गया है । वे विष्णु ही कहते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर—हम तीनों एक ही हैं । हमें जो भिन्न रूपमें देखते हैं, वे यथार्थरूपमें नहीं देखते—

'अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम्' ।
(श्रीमद्भा० ४ । ७ । ५०)

राम राम सीताराम ! भृगुमुनि यह जाननेके लिये कि कौन बड़ा है, ब्रह्माके पास गये । ब्रह्माको प्रणाम न करनेसे वे क्रुद्ध हो उठे । शिव भी असम्मान करनेपर त्रिशूल लेकर दौड़े । मुनिने जाकर विष्णुके वक्षपर लात मारी । विष्णुने कहा—'मेरा वक्षःस्थल बड़ा कठोर है । आपके चरणमें चोट तो नहीं लगी ?' शिव सदा पञ्चमुखसे 'राम-राम' कहते रहते हैं—

'अहं भवन्नाम गृणन् कृतार्थः' (अध्यात्मरामायण)

विष्णुभक्तोंने भागवतको पढ़कर जाना कि विष्णु ही सर्वश्रेष्ठ हैं । यह जानकर वे अनन्यभावसे उपासनाद्वारा समझ सके कि वासुदेव ही सब कुछ हैं । छोटा-बड़ा कोई भी नहीं है । सभी मेरे प्रभुकी ही लीलामूर्ति हैं, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' । शिवभक्त भी—शिवने विष्णुको चक्रदान किया था, विष्णु एवं कृष्णने शिवकी प्राप्तिके लिये तपस्या की थी, इस रूपमें महाभारत एवं शिवपुराणादिके वर्णनोंसे शिवकी श्रेष्ठता जानकर उनकी अनन्यभावसे उपासना करने लगे, चित्त अन्तर्मुख हो गया, श्रेष्ठ-निकृष्टकी भ्रान्ति दूर हो गयी । वे समझ गये कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—'सर्वं ब्रह्मौपनिषदम्' ।

देवीभक्त भी 'देवीभागवत' पढ़कर देवीको सर्वश्रेष्ठ मानकर उपासना करने लगे, चित्तकी मलिनता दूर हो गयी, श्रेष्ठ-निकृष्टकी भ्रान्ति दूर हो गयी। उन्होंने भी अनुभव किया कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'सर्वं ब्रह्मौपनिषदम्', 'नेह नानास्ति किंचन'। राम राम सीताराम! जय जय राम सीताराम! भेदभाव तो बाहर—दूर खड़े रहनेपर है, तपस्यासे चित्त निर्मल होनेपर तो 'कः कं पश्येत्' कौन किसे देखेगा?

हरि—रामायण, महाभारत और पुराणोंका क्या प्रयोजन है?

क्षेपा—राम राम सीताराम! जो अशुद्धचित्त देहात्मवादी और भोगपरायण हैं, उन्हींके लिये तुलसीदेवीके शापसे तीन छिद्र हुए हैं। मान लो कि शुद्धसात्त्विक जो विष्णु हैं, उनको कैसे पकड़ा जाय? इसके लिये चार उपाय बताये गये हैं—नाम, रूप, लीला और धाम। ये चारों ही चिन्मय हैं। इनमेंसे किसी एकको भी ग्रहण करनेपर मनुष्य मूल लक्ष्यपर पहुँच सकता है। राम राम सीताराम!

रामस्य नाम रूपं च लीला धाम परात्परम्।
एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्दविग्रहम्॥
(वसिष्ठ-संहिता)

रामके अर्थात् इष्ट-देवताके नाम, रूप, लीला और धाम श्रेष्ठसे श्रेष्ठ हैं। ये नित्य मूर्तिमान् सच्चिदानन्द हैं। इनमें प्रथमको लो, रामका नाम।

हरि—मैं यदि कहूँ, 'उससे कुछ नहीं होता। राम मनुष्यका नाम है। कृष्ण भी मनुष्यका नाम है। रूप, लीला आदि कुछ भी नहीं है।'

क्षेपा—राम राम सीताराम! हम वेद, उपनिषद्—'रामपूर्वतापिनी', 'उत्तरतापिनी', 'श्रीरामोपनिषद्', 'मुक्तिकोपनिषद्', 'गोपालपूर्वतापिनी', उत्तरतापिनी, 'श्रीकृष्णोपनिषद्', रामायण, महाभारत, समस्त पुराण, संहिता, भगवान् शंकराचार्य, भगवान् रामानुजाचार्य, भगवान् रामानन्दाचार्य, भगवान् निम्बकाचार्य, भास्कराचार्य, माधवेन्द्रपुरी, अद्वैताचार्य, ईश्वरपुरी, महाप्रभु चैतन्यदेव और उनके परिकरगण, कालिदासके 'रघुवंश', भट्टिकविके भट्टिकाव्य, भवभूतिके 'महावीरचरित', 'उत्तररामचरित', 'प्रतिमानाटक' एवं अन्यान्य कवियोंके काव्य, नाटक, भगवान् रामानन्दके शिष्य कबीर, रैदास-प्रभृति सन्तगण और गोस्वामी श्रीतुलसीदास, कवि हेमचन्द्र, कवि नवीनसेन, रवीन्द्रनाथ, कवि रजनीसेन, योगिराज अरविन्द, दिलीप राय आदि अन्यान्य विद्वान् सज्जन-मण्डलीकी बात तुम्हें पहले ही बतला चुके हैं। उनकी वाणी और उपदेशद्वारा स्थिर निश्चय होगा कि श्रीरामचन्द्र, श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् हैं और इनके नाम, रूप, लीला और धाम चिन्मय हैं।

हरि—फिर भी यदि मैं कहूँ कि इन सबको मैं नहीं मानूँगा।

क्षेपा—राम राम सीताराम! जय जय राम सीताराम! तो तुम जिनमें अत्यन्त श्रद्धा रखते हो, उन श्रीगोपीनाथजी कविराजकी ही बात तुमको सुनाऊँगा।

हरि—उन्होंने क्या कहा है?

क्षेपा—राम राम सीताराम! जय जय राम सीताराम! 'श्रीभगवान्‌के रूप, लीला और गुणके समान उनका नाम भी अप्राकृत एवं चिदानन्दमय है। नाम अलौकिक शक्ति-सम्पन्न है। इसके प्रभावसे ऐश्वर्य, मोक्ष एवं भगवत्-प्रेम-पर्यन्त प्राप्त हो सकता है······'।

श्रीरामनाम—यह श्रीभगवान्‌का एक विशिष्ट नाम है। इसकी महिमा अनन्त है। यही 'तारक ब्रह्म'के नामसे शास्त्रमें वर्णित हुआ है। यह प्रणवसे अभिन्न है, इसीको ऋषि-मुनियोंने बारंबार प्रकट किया है।

हरि—यदि कहूँ कि यह बात ठीक नहीं है।

क्षेपा—राम राम सीताराम! जय जय राम सीताराम! तो मैं तुमको इस प्रकार दण्डवत्-प्रणाम कर नाचना प्रारम्भ कर दूँगा।

(क्षेपा हरिदास बाबूको दण्डवत् प्रणाम करके राम-राम बोलता हुआ 'थेई-थेई' करके नाचने लगा। नाच अविराम चलता रहा)।

हरि—अरे जरा ठहरो। (बार-बार बोलनेसे क्षेपा चुपचाप खड़ा हो गया) अच्छा यह बताओ कि राम-राम करनेसे ॐकारमें कैसे पहुँच सकते हैं? क्रमसे बोलो। यह विज्ञानका युग है। तुम्हारी युक्तिहीन अनर्गल बातको कौन सुनेगा?

क्षेपा—राम राम सीताराम! जय जय राम सीताराम। अच्छा, तो शब्दसे जगत्‌की सृष्टि हुई। शब्दने ही जगदाकार धारण किया है, जानते ही हो? राम-राम सीताराम!

"वागेव विश्वा भुवनानि यज्ञे, वाच इति सर्वममृतं यच्चमर्त्यमिति ।" (ऋक्संहिता)

वाक् या शब्दसे ही समस्त भुवन उत्पन्न हुए हैं; क्या अमृत और क्या मर्त्य, सभी वाक् या शब्द-सम्भूत हैं ।

हरि—यह क्या नहीं जानता !

क्षेपा—राम राम सीताराम ! वह शब्दब्रह्म परा, पश्यन्ती मध्यमा और वैखरीके रूपमें खेल करता है । यह तो जानते हो ? राम राम सीताराम !

हरि—अच्छी तरह जानता हूँ । मैंने संत-सद्गुरु-लाभ किया है । शब्दका रहस्य तुम मुझे क्या सुनाओगे ? ध्वन्यात्मक शब्द ही शब्द है और सब व्यर्थ है ।

क्षेपा—राम राम सीताराम ! मैं वर्णात्मक शब्दकी बात कहूँगा, राम राम ।

हरि—वह और क्या सुनूँगा ?

क्षेपा—राम राम सीताराम । ठीक है, तो नाचूँ । (राम-राम बोलते हुए क्षेपा नाचनेके लिये उठा) ।

हरि—ठहरो-ठहरो ! अच्छा तुम क्या जानते हो, सो कहो ?

क्षेपा—राम राम सीताराम ! एक चञ्चलचित्त, यथेच्छ-भोगी, आचारहीन व्यक्तिने दारुण रोगग्रस्त हो, मृत्युको निकट जानकर गुरुका आश्रय लिया । गुरुने कहा—तुम राम राम जपो । उसने जप आरंभ किया, मनके चारों ओर भटकनेके कारण जप न कर सकनेपर गुरुदेवको जाकर कहा—बाबा ! मैं जप नहीं कर पाता । एक तो मेरा मन चञ्चल है, उसपर घरमें हल्ला-गुल्ला, कुछ भी नहीं हो पाता; ऊपरसे झोंके आते हैं । गुरुदेव बोले—अच्छा, एक काम करो । करताल बजाकर नाचते हुए नाम-कीर्तन करो । वह करताल बजाकर नाचते हुए नाम कीर्तन करने लगा । राम राम सीताराम ! कुछ दिन ऐसा करनेके बाद उसके शरीरमें रोमाञ्च होने और बहुत आनन्दका अनुभव होनेसे वह और भी अधिक समयतक कीर्तन करने लगा ।

हरि—आनन्दानुभव कैसे होने लगा ?

क्षेपा—राम राम सीताराम ! 'राम' शब्दका उच्चारण करूँगा—यह निश्चय जैसे ही मनमें होता है, वैसे ही सहजभावसे मूलाधारसे परा (शक्ति)में वदन-सामर्थ्यका स्फुरण होता है और क्रमशः पश्यन्ती और मध्यमाका अतिक्रमण कर 'राम' शब्द मुखसे उच्चारित होता है । इस प्रकार शरीरमें शब्द-ब्रह्म खेल करता है । इनमेंसे कुछ शब्द मनुष्यको अन्तर्मुख करते हैं और कुछ बहिर्मुख बनाते हैं । राम राम सीताराम !

हरि—कौन-से शब्द अन्तर्मुख और कौन-से बहिर्मुख बनाते हैं ?

क्षेपा—राम राम सीताराम ! जिन शब्दोंके भीतर बाहरकी कुछ कामना रहती है, वे बहिर्मुख करते हैं और जिन शब्दोंके भीतर बाहरकी कुछ चाह नहीं रहती, वे अन्तर्मुखी करते हैं, राम राम सीताराम !

हरि—वह कैसे ?

क्षेपा—राम राम सीताराम ! 'मधुकर निकर करम्बित कोकिल कूजित कुञ्ज कुटीरे ।' इसमें मधुकर, कोकिल, कुञ्जकुटीर आदिके साथ मन बाहरकी ओर दौड़ता है । राम राम सीताराम !

हरि—और किन शब्दोंसे अन्तर्मुख होता है ?

क्षेपा—राम राम सीताराम । 'अन्तहु तोहि तजैंगे पामर ! तू न तजै अब ही ते ।' विनयप० १९८ । ३) मन अन्तिम दिनकी बात याद कर बहिर्मुख नहीं हो सकता । भगवान्के सारे नाम ही अन्तर्मुख शब्द हैं । राम राम सीताराम । उच्चारणसे प्रसन्न होनेपर राम ही अन्तर्मुख कर देते हैं ।

हरि—राम-राम करते हुए नाचनेसे उसने क्या पाया ?

क्षेपा—राम राम सीताराम करनेसे वह 'राम' नाम—अन्तर्मुख शब्द भीतर प्रवेश कर बहत्तर हजार नाड़ियोंमें स्पन्दन करने लगा, बाहरसे उच्च वाणीमें कीर्तन करनेसे सात्त्विक परमाणुओंको एकत्र करने लगा । अनुलोममें परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणी थी, अब विलोमगति होनेपर उस वैखरीके मध्यमामें पहुँचते ही अनाहत-नाद आरम्भ हो गया । क्रमशः श्रीरामनाम और सात्त्विक परमाणु देहके दोष नष्ट करने लगे । राम राम सीताराम !

हरि—देहके दोष कौन-से ?

क्षेपा—राम राम सीताराम ! योगके मतानुसार काम, क्रोध, मोह, अनुराग और स्नेह—ये देहदोष हैं । (महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय ३००) और सांख्यमतके अनुसार काम, क्रोध, भय, निद्रा और श्वास देह दोष हैं । (म० भा० शान्तिपर्व ६०१) ।

देहके दोष नष्ट होते ही रोग समाप्त हो गया और अनुरागके साथ नाम लेनेसे क्रमशः अष्ट सात्त्विकभावका उदय हुआ, प्राणोंमें दर्शनकी तीव्र आकाङ्क्षा जाग्रत् हो गयी; अनेक प्रकारके नाद क्रमशः प्राणको आकर्षित करने लगे ।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

श्रीहनुमान्‌जीकी कृपाका चमत्कार

(सत्य घटना)

हमारे गाँवमें श्रीरतनसिंहद्वारा बनवाया हुआ १७५ वर्ष पुराना एक शिव-मन्दिर है, जो जीर्ण हो गया है। श्रीरतनसिंहके वंशज श्रीकरनसिंह उस पुराने मन्दिरका जीर्णोद्धार करना चाहते थे। वे सहयोगके लिये मेरे पास आये। उस समय मैं पीड़ासे कराह रहा था। मैंने करनसिंहसे निवेदन किया कि मेरी बायीं टाँग बेकार हो रही है, लाठी या आदमीके सहारेके बिना मैं खड़ा भी नहीं हो सकता; कूल्हेके पाससे दर्द शुरू होता है और बिजलीके करेंटके समान पिण्डलीतक चला जाता है। चलने-फिरनेके अतिरिक्त और जो भी कहो, मैं सहयोग देनेके लिये तैयार हूँ। तब श्रीकरनसिंहने इसपर मुझे बताया कि मन्दिरके जीर्णोद्धारका बहुत कुछ काम हो चुका है। गाँववालोंका अनुरोध था कि मन्दिरके आँगनमें एक स्थान श्रीहनुमान्‌जीका भी होना चाहिये। वह स्थान भी बन चुका है। किंतु वहाँ श्रीहनुमान्‌जीकी अभी मूर्ति स्थापित करनी है। वह मूर्ति हम आपकी पसंदकी लाना चाहते हैं। आप गाँवके सम्मानित वयोवृद्ध व्यक्ति हैं। मूर्ति आपको ही पसंद करनी होगी।' मैंने कहा 'भाई! मेरी टाँगमें साइटिकाका दर्द है। चलूँ तो कैसे? मुझे बड़ा हर्ष होता 'यदि मैं तुम्हारे साथ चल सकता।' इसपर श्रीकरनसिंहने कहा, 'इस बातकी आप चिन्ता न करें, सवारीका सब प्रबन्ध है। आपको थोड़ा भी कष्ट न होने पायेगा।' मैंने भी चलनेकी स्वीकृति दे दी। सवारी आ जानेपर मैं आरामसे दिल्ली पहुँच गया। टाँगमें पीड़ा ज्यों-की-त्यों थी। हमलोग कुतुब रोड पहुँचे। वहींसे मूर्ति लेनी थी।

कुतुबरोडमें अनेक मूर्तियाँ देखी गयीं। उनमें मुझे संगमरमरकी एक मूर्ति बड़ी अच्छी लगी। अन्य साथियोंने भी उस मूर्तिको पसंद किया। दूकानदारको संतुष्ट करके मूर्ति ले ली गयी, परंतु लौटते समय कारमें कुछ खराबी आ गयी और हमलोगोंको पैदल आना पड़ा। कुतुब रोडसे रेलवे स्टेशनके लिये ताँगे किरायेपर लिये और मुझे भी एकपर चढ़ा दिया गया। उस समय मेरी टाँगमें असह्य पीड़ा हो रही थी। मूर्ति संगमरमरकी थी और उसका वजन पूरा चालीस किलो था। मूर्तिको भूमिपर रखना नहीं था, उसे तो हाथों-हाथ गोदमें या सिरपर रखकर मन्दिरतक ले जाना था। अतः अपना सौभाग्य समझते हुए मैंने अपने-आपको प्रस्तुत किया और कहा कि 'ताँगा जबतक रेलवे स्टेशनतक नहीं पहुँचता, मूर्तिको मेरी गोदमें रख दिया जाय। मुझे जीवनमें ऐसा सुअवसर कब मिलेगा कि पर्वतोंको फूलके समान उठानेकी सामर्थ्य रखनेवाले बजरंगबलीको मैं तुच्छ जीव अपनी गोदमें बिठा सकूँ? मूर्ति मेरी गोदमें रक्खो।'

बड़े हर्षसे सब लोगोंने मेरा प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। दो व्यक्तियोंने मूर्ति उठायी, अपने मस्तकसे लगायी और मेरी गोदमें रख दी। संयोगसे मनभर भारवाली वह मूर्ति मेरी बायीं टाँगपर रक्खी गयी, जिसमें बेहद पीड़ा थी। जैसे-जैसे ताँगा स्टेशनकी ओर आगे बढ़ा, मुझे किसी अज्ञात कारणसे टाँगमें कुछ सुखका-सा अनुभव होने लगा। लगभग आधे घंटेमें हमलोग स्टेशन पहुँच गये। गाज़ियाबादके लिये रेलगाड़ी तैयार खड़ी थी, छूटनेमें केवल दस मिनट थे। एक आदमी टिकट लेने दौड़ गया। मैं अपने मनमें डर रहा था कि मैं गाड़ी नहीं पकड़ सकूँगा; क्योंकि गाड़ी तभी पकड़ी जा सकती थी, जब कि कई पुल पार कर लिये जाते और उस प्लेटफार्मतक पहुँच जाया जाता। मेरे पैरोंसे चला नहीं जाता था। लाठीके सहारे दस मिनटमें मैं प्लेट-फार्मतक नहीं पहुँच सकूँगा, इसी उधेड़-बुनमें मैं पड़ा हुआ था कि दो सज्जनोंने मूर्ति मेरी गोदसे उतारी और एक नौजवानने उसे अपने सिरपर रख लिया और रेलगाड़ीकी ओर शीघ्रतासे चल दिया। दो व्यक्ति ताँगेसे उतारनेके लिये मुझे सहारा देने लगे। परंतु आश्चर्यकी बात है कि मैं बिना किसी सहारेके ताँगेसे स्वयं उतर आया। इससे भी अधिक आश्चर्यकी बात यह हुई कि मैं बिना लाठी टेके सब सहयोगियोंके साथ चल पड़ा। यह देखकर सब लोग आश्चर्य करने लगे कि यह क्या चमत्कार हो गया। कई पुलोंको पार कर हमलोग उस प्लेट-फार्मपर पहुँचे, जहाँ हमारी गाड़ी खड़ी थी। हम सब लोग आरामसे

गाड़ीमें सवार हो गये। मूर्ति मैंने पुनः अपनी गोदमें रख ली और गाड़ी चल पड़ी।

लोग मेरी ओर भौंचक्के-से देख रहे थे कि जो आदमी बिना सहारे उठ नहीं सकता था और जो पीड़ासे कराहता रहता था, वह कैसे प्लेटफार्मपर हिरनके समान उछलता-कूदता चल दिया? मैंने कहा—मेरी टाँगमें जो दर्द था, वह न मालूम कहाँ उड़ गया! यह घटना ७ जुलाई १९७६की है।

हमलोग गाँव पहुँचे। इस चमत्कारकी चर्चा घर-घरमें फैल गयी और बड़ी संख्यामें लोग मुझसे मिलने आने लगे और मेरा हाल पूछने लगे। मैंने बतलाया कि अभी तो टाँगमें दर्द नहीं है, कलकी राम जाने। उसके बाद मूर्तिकी स्थापना हुई। श्रीकरनसिंहने उस मूर्तिकी स्थापनाके समारोहमें सबको बताया कि इस मूर्तिके कारण और केवल इसीके कारण, क्योंकि अन्य कोई कारण उपस्थित नहीं था, हमारे वयोवृद्ध चौधरी हरवंशसिंहजीकी टाँगका दर्द दूर हो गया। इस दर्दको वे कई वर्षोंसे लिये फिरते थे। जो लोग कहते हैं कि मूर्तिमें कोई शक्ति नहीं होती, वे इस उदाहरणको अपनी आँखों देख लें। श्रीकरनसिंहके उक्त वक्तव्यके उपरान्त मैं न जाने कबतक कृतज्ञता एवं श्रद्धाके वशीभूत होकर मूर्तिके सामने सिर टेके रहा?

—चौधरी हरवंशसिंह

(२)

दुर्गादासकी धार्मिक सहिष्णुता

बादशाह औरंगजेबने जोधपुर-राज्यको हस्तगत करनेकी बहुत चेष्टा की; किंतु वह अपने प्रयत्नोंमें सफल नहीं हुआ। महाराज जसवन्तसिंहके उपकारको वह भूल चुका था। किसीके उपकार और सम्बन्धको स्मरण रखना उसके स्वभावमें ही नहीं था। राजनीतिमें वह निष्ठुर था और धर्मके विषयमें अत्यन्त संकीर्ण दुराग्रही। किंतु महाराज जसवन्तसिंहके बालक पुत्र अजीतसिंहका स्वत्व-रक्षक बनकर जो राठौर वीर दुर्गादास निरन्तर युद्धके लिये संनद्ध होकर बैठा था, उससे बादशाहकी चल नहीं पाती थी।

बादशाहने अपने पुत्रको सेनाके साथ दुर्गादासका दमन करने भेजा। वह लगभग विद्रोही चुका था; किंतु उसने जब मित्रताकी प्रार्थना की, दुर्गादासने उसे अस्वीकार नहीं किया। यह समाचार बादशाहको मिला तो उसने पुत्रके विरुद्ध सेना भेज दी। औरंगजेबके कूटनीतिक पत्रसे राजपूतोंने संदिग्ध होकर अकबरको आश्रय देनेसे इन्कार कर दिया, फलस्वरूप वह ईरान चला गया। शाही सेनाको वीर दुर्गादासके हाथों पराजय प्राप्त हुई।

शाहजादा ईरान जाते समय अपने पुत्र बुलन्द अख्तर तथा पुत्री सफायतुन्निशाको जोधपुर ही छोड़ गया था। यात्रामें बच्चोंको लेकर वह कहाँ भटकता? बादशाहको यह समाचार भी मिला। शाही सेना हारकर लौट चुकी थी। बादशाहने अपना प्रतिनिधि बनाकर ईश्वरदास नागरको जोधपुर भेजा।

दुर्गादासने अपना मन्तव्य स्पष्ट किया, 'शाही बच्चोंको मैं स्वयं सुरक्षित दिल्ली पहुँचा दूँगा; किंतु बादशाहको अजीतसिंहको जोधपुर-नरेश स्वीकार कर लेना चाहिये।'

बादशाहके पास दूसरा कोई उपाय न था। उन्होंने शर्त स्वीकार कर ली। दुर्गादास जितने वीर थे, उतने ही नीति-कुशल भी थे। औरंगजेबकी बात विश्वास करने योग्य नहीं है, यह वे जानते थे। वे केवल शाहजादीको लेकर दिल्ली गये, किंतु शाहजादेको उन्होंने जोधपुर ही रहने दिया। बादशाहके लिये यह चेतावनी थी कि यदि तुमने धोखा किया तो तुम्हारा पौत्र हमारे सरदारोंके हाथमें है।'

उस समय औरंगजेब दिल्लीसे दूर ब्रह्मपुरीमें था। पौत्रीने पहुँचकर उसके कदमोंमें सिर झुकाया तो प्यारसे उसे पास बैठाकर वह बोला—'बेटी! तुम सोलह वर्षकी हो गयी, अबतक तुम्हें अपने मजहबका पता नहीं है। काफिरोंके साथ तुम्हें रहना पड़ा; अब कुरान पढ़नेमें मन लगाओ।'

शाहजादीने कहा—'बाबाजान! मैंने तो कुरान पढ़ा है। चाचा दुर्गादासजीने मुझे पढ़ानेके लिये एक मुसल्मान औरत नियुक्त कर दी थी। आप पूछ देखिये, मुझे कुरानकी पूरी आयतें याद हैं।'

'ओह! हिंदुओंकी बहुत-सी बातें ऐसी हैं कि उनमें उनका मुकाबला शायद फरिश्ते ही कर सकें।' बादशाह पौत्रीकी बात सुनकर आश्चर्यचकित हो गया था।

'यह हमारा कर्तव्य था, जहाँपनाह!' यह कहते हुए

उसी समय दुर्गादासने आकर अभिवादन किया । वे कह रहे थे—'हमारा किसी धर्मसे द्वेष नहीं । अपने स्वामीकी रक्षाके लिये हम तलवार उठाते हैं; किंतु हमारी दुश्मनी औरंगजेबसे है, किसीके धर्मसे अथवा किसीके बचोंसे नहीं ।'

बादशाह बोला—'दुर्गादास ! तुम फरिश्ते हो ।' उसने राठौर केसरीको सम्मानपूर्वक बैठाया और अजीतसिंहको जोधपुर-महाराज माननेका फरमान जारी कर दिया ।

(३)

प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरेका सेवक है

अफ्रीकामें कमेराका हब्शी राजा बहुत अभिमानी था । वह ऐश्वर्यके उन्मादमें सदा मग्न रहता था । लोग उससे बहुत डरते थे और उसकी छोटी-से-छोटी इच्छाकी भी पूर्ति करनेमें दत्तचित्त रहते थे ।

एक दिन वह अपनी राजसभामें बैठकर डींग हाँक रहा था कि सब लोग मेरे सेवक हैं । उस समय एक वृद्ध हब्शीने, जो बड़ा बुद्धिमान् और कार्यकुशल था, उसके कथनका प्रतिवाद किया । उसका नाम बोकबार था ।

'प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरेका सेवक है ।' वृद्धके इस कथनसे राजा सिरसे पैरतक जल उठा ।

'इसका आशय यह है कि मैं तुम्हारा सेवक हूँ । मुझे विवश करो अपनी सेवा करनेको । मैं तुम्हें सौ गायें पुरस्कारस्वरूप प्रदान करूँगा । यदि तुम शामतक मुझे अपना सेवक नहीं सिद्ध कर सकोगे, तो मैं तुम्हें मार डालूँगा और लोगोंको दिखा दूँगा कि मैं तुम्हारा मालिक हूँ ।' कमेरा-नरेशने बोकबारको धमकी दी ।

'बहुत ठीक' कहकर बोकबारने अभिवादन किया, वृद्ध होनेके नाते चलनेके लिये वह अपने पास एक छड़ी रखता था । ज्यों ही वह राजसभासे बाहर निकल रहा था, त्यों ही एक भिखारी आ पहुँचा ।

'मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं इस भिखारीको कुछ खानेके लिये दूँ ।' बोकबारने राजासे निवेदन किया ।

दोनों हाथोंमें भोजनकी सामग्री लेकर वह बुढ़ापेके कारण राजाके निकट ही थर-थर काँपने लगा, बगलसे छड़ी जमीन-पर गिर पड़ी और उसके कपड़ेमें उलझ गयी तथा वह उलझकर गिरनेवाला ही था कि उसने राजासे छड़ी उठा देनेकी प्रार्थना की । राजाने बिना सोचे-समझे छड़ी उठा दी । बोकबार ठठाकर हँस पड़ा ।

'आपने देखा कि सज्जन लोग एक दूसरेके सेवक होते हैं । मैंने भिखारीकी सेवा की और आप मेरी सेवा कर रहे हैं । मुझे गायोंकी आवश्यकता नहीं है । आप उन्हें इस दीन भिखारीको दे दीजिये ।' बोकबारने अपने कथनकी सत्यता प्रमाणित की ।

राजाने प्रसन्न होकर बोकबारको अपना मन्त्री बना लिया ।

(४)

मैडम ब्लैवेट्स्कीकी उदारता

मैडम ब्लैवेट्स्कीका जन्म रूसके दक्षिण भागमें इकटरीनसलो स्थानमें सन् १८३१ ई०में एक समृद्ध परिवारमें हुआ था । उन्होंने थियॉसॉफी समाजकी स्थापनामें अमित योगदान किया था और लोगोंमें निर्मल अध्यात्मशक्तिके प्रति श्रद्धा जगायी थी ।

उनके जीवनका एक मार्मिक प्रसङ्ग है, जिससे उनकी परदुःखकातरतापर प्रकाश पड़ता है । अपनी विचारधाराके प्रचारके लिये वे अमेरिकाके न्यूयार्क नगरमें जा रही थीं । उन्होंने प्रथम श्रेणीका टिकट लिया था और वे जहाजपर चढ़ने जा ही रही थीं कि देखा, एक स्त्री अपने दो बच्चोंको साथ लिये सिसक-सिसककर रो रही है । ब्लैवेट्स्कीने उसके रोनेका कारण पूछा ।

'बहन ! मेरे पतिने मुझे अमेरिका बुलानेके लिये रुपये भेजे थे । जहाजके एक धोखेबाज एजेंटने मुझे नकली टिकट देकर मेरे पैसे ठग लिये । मैंने उसको बहुत खोजा, पर वह दीखता ही नहीं । मेरे टिकट साधारण श्रेणीके थे । स्त्रीने अपनी विवशता प्रकट की । ब्लैवेट्स्कीका कोमल हृदय उसकी वेदनासे द्रवित हो उठा ।

'बहन ! बस इतनी ही बात है ? इसके लिये रोने-धोने-से लाभ ही क्या है ? करुणामयी ब्लैवेट्स्कीने मुस्कुराकर

कहा। स्त्रीको अपने बच्चोंसहित पीछे-पीछे आनेका संकेत किया। वह ब्लैवेट्स्कीकी सद्भावनासे आशान्वित हो उठी।

ब्लैवेट्स्की जहाजके एजेंटके पास गयी और अपने प्रथम श्रेणीके टिकटके बदले साधारण श्रेणीके चार टिकट ले लिये।

'आओ बहन! जहाज खुलना ही चाहता है। हम शीघ्रतासे अपने स्थानपर चले चलें।' ब्लैवेट्स्कीके पीछे-पीछे स्त्री अपने दोनों बच्चोंको लेकर जहाजपर चढ़ गयी। ब्लैवेट्स्कीने साधारण स्थानपर खड़ी रहकर न्यूयार्ककी यात्रा पूरी की।

(५)

जाको राखे साइयाँ मार सके ना कोय

बात ९-६-७६के ६बजे संध्याकी है। मैं अपने घरकी ओर चिड़ैयाटाँड़ पुलसे होकर लौट रहा था; मन बहुत उदास था तथा भगवान्‌के अस्तित्वके प्रति एक अजीब तरहकी शङ्का पैदा हो रही थी। इसी समय पुलके नीचे, अपनी बायीं ओर जहाँ कुछ झोपड़ियाँ बनी हुई हैं, देखा कि एक गाय अपने गलेमें सीकड़सहित छान तोड़कर उछलती-कूदती पुलकी बायीं ओरवाली टूटी-फूटी गलीमें घुस पड़ी। कुछ बच्चे जो इधर-उधर खेल रहे थे, दौड़कर किनारे भाग गये। मैं अन्यमनस्क-सा इस घटनाको देखता हुआ घरकी ओर जा रहा था। इतनेमें ही देखता क्या हूँ कि मेरी बायीं ओर पुलके नीचेवाले रास्तेपर एक महिला रोती हुई और कुछ आदमी उसके साथ चिल्लाते हुए दौड़ रहे हैं। वह गाय आगे-आगे भागी जा रही थी, उसकी सीकड़में जो उसके गलामें बँधा हुआ था, एक खाटके पायेका ऊपरी हिस्सा फँसा हुआ था; जिससे वह खाट भी खिंची हुई जा रही थी। उस खाटपर एक ५-६ महीनेका बच्चा बिना बिछावनका ही पड़ा हुआ था। बच्चा भी गरीब घरका था। गाय उस खाटको खींचते हुए ऊबड़-खाबड़ गलीसे दौड़ती हुई भागी जा रही थी और लोग तथा वह औरत चिल्लाते हुए पीछे-पीछे दौड़ रहे थे। रास्ता ऊबड़-खाबड़ होनेकी वजहसे कुछ ही दूरीमें उस खाटके चारों पाये टूट गये; लेकिन गायका सीकड़ जिस पायेमें फँसा हुआ था, वह पायेके ऊपरी हिस्सेमें ज्यों-का-त्यों फँसा रहा। बच्चा घिसटा हुआ उस खाटपर ही चला जा रहा था। अपने पीछे लोगोंके हल्ले एवं दौड़नेके कारण गाय दौड़ती हुई खाटके साथ उछलती-कूदती भागी जा रही थी। कुछ दूर आगे जानेपर जहाँ पुल समाप्त होता है, वहाँ एक ऊँची टंकी बनी हुई है, जो कि ऊपरसे बंद है, उससे टक्कर खाकर गायका सीकड़ उस टूटे हुए खाटसे निकल गया। लोगोंने पीछेसे दौड़कर उस बच्चेको गोदमें उठा लिया तथा देखने लगे कि बच्चेका कोई अङ्ग टूटा तो नहीं? तबतक बच्चेकी माँ भी रोती-चिल्लाती हुई आकर बच्चेको अपनी गोदमें समेटाकर यह देखने लगी कि बच्चेको कहीं सख्त चोट तो नहीं लगी है? लेकिन कोई भी प्रत्यक्ष दिखलायी देनेवाली चोट नहीं लगी थी। बच्चा अपनी माँको रोते हुए देखकर घबराया हुआ-सा माँका मुँह देख रहा था। बच्चेको ऐसा लग रहा था, जैसे उसे कुछ हुआ ही न हो। मैं तथा अन्य कुछ आदमी पुलपर ही खड़े होकर इस आश्चर्यजनक घटनाको, जो कुछ ही क्षणोंमें घटित हो गयी थी, देखकर स्तब्ध रह गये। मैं भगवान्‌की इस असीम कृपाको देखकर, जो कुछ क्षण पहले उन्हें कोस रहा था, उनके चरणोंमें मन-ही-मन नतमस्तक हो गया और अपनी भूलकी क्षमा माँगने लगा।

—महेन्द्रप्रताप सिन्हा

(६)

जो सत बार पाठ कर कोई

घटना इसी जून मासकी है। मेरे पिताजीको पेटदर्दकी शिकायत रहने लगी। पेटमें दर्द सिर्फ रातमें चलता; करीब ११बजेसे सुबह ४ बजेतक। मेरे पिताजीने सब तरहकी दवाओंका प्रयोग कर लिया। अंग्रेजी दवाइयोंका इलाज चला और अस्पतालमें भर्ती भी हो गये। अंग्रेजी दवाइयोंसे जब कोई लाभ न हुआ तो देशी ओषधियोंका उपचार चला। लेकिन सब निष्फल! आखिर मेरे पिताजी एवं माताजी जयपुर जानेके लिये तैयार हो गये। सब सामान तैयार हो गया था। माताजीके कहनेसे मेरे पिताजी जानेके लिये तैयार हुए थे। एकाएक बजरंगबलीके प्रभावसे मेरे पिताजीके मनमें आया कि वे हनुमानचालीसाका नियमित पाठ किया करें। पिताजीने दूसरे दिन हनुमानचालीसाके सौ पाठ किये। पहले दिन दर्द ठीक नहीं हुआ, फिर उन्होंने दूसरे दिन किया, तो पवनसुतकी कृपासे मेरे पिताजीको उसी रातसे पेटमें दर्द चलना बंद हो गया। अब मेरे पिताजी हनुमानचालीसाका प्रतिदिन नियमितरूपसे पाठ करते हैं।

—सुरेशचन्द्र गुप्ता 'धीर'

भगवान् शंकरजीद्वारा सुरभि-गौका स्तवन

एक वार भगवान् शंकरद्वारा ब्रह्मतेजसे सम्पन्न ऋषियोंका कुछ अपराध हो गया और ऋषियोंने उन्हें घोर शाप दे दिया, जिसके भयसे त्रस्त होकर शंकर गोलोक पहुँचे और पवित्र ब्राह्मणोंके ही दूसरे रूप माता सुरभिका स्तवन करने लगे—

सुरभिं गां च गोलोके तां तुष्टाव सुसंयतः । सृष्टिस्थितिविनाशानां कर्त्र्यै मात्रे नमो नमः ॥
या त्वं रसमयैर्भावैराप्यायसि भूतलम् । देवानां च तथा सङ्घान् पितृणामपि वै गणान् ॥
सर्वज्ञाता रसाभिज्ञैर्मधुरास्वाददायिनी । त्वया विश्वमिदं सर्वं बलस्नेहसमन्वितम् ॥
त्वं माता सर्वरुद्राणां वसूनां दुहिता तथा । आदित्यानां स्वसा चैव तुष्टा वाञ्छितसिद्धिदा ॥
त्वं धृतिस्त्वं तथा पुष्टिस्त्वं स्वाहा त्वं स्वधा तथा । ऋद्धिः सिद्धिस्तथा लक्ष्मीर्धृतिः कीर्तिस्तथा मतिः ॥
कान्तिर्लज्जा महामाया श्रद्धा सर्वार्थसाधिनी । त्वया विरहितं किंचिन्नास्ति त्रिभुवनेष्वपि ॥
वह्नेस्तृप्तिप्रदात्री च देवादीनां च तृप्तिदा । त्वया सर्वमिदं व्याप्तं जगत्स्थावरजङ्गमम् ॥
पादास्ते वेदाश्चत्वारः समुद्राः स्तनतां ययुः । चन्द्रार्कौ लोचने यस्या रोमाग्रेषु च देवताः ॥
शृङ्गयोः पर्वताः सर्वे कर्णयोर्वायवस्तथा । नाभौ चैवामृतं देवि पातालानि खुरास्तथा ॥
स्कन्धे च भगवान् ब्रह्मा मस्तकस्थः सदा शिवः । हृद्देशे च स्थितो विष्णुः पुच्छाग्रे पन्नगास्तथा ॥
शकृत्स्था वसवः सर्वे साध्या मूत्रस्थितास्तत्र । सर्वे यज्ञा ह्यस्थिदेशे किंनरा गुह्यसंस्थिताः ॥
पितॄणां च गणाः सर्वे पुरःस्था भान्ति सर्वदा । सर्वे यक्षा भालदेशे विश्वेदेवाः कपोलयोः ॥
सर्वदेवमयी त्वं हि सर्वभूतविवृद्धिदा । सर्वलोकहिता नित्यं मम देहहिता भव ॥
प्रणतस्त्वां देवेशि पूजये त्वां सदानघे । स्तौमि विश्वार्तिहन्त्री त्वां प्रसन्ना वरदा भव ॥

(स्कन्द० नागर० २५८ । ३०—४३)

'गोलोकमें संयत होकर शंकरजीने उस सुरभि गौकी इस प्रकार स्तुति की—सृष्टि, स्थिति और विनाश करनेवाली माता ! तुम्हें वारंवार नमस्कार है । तुम रसमय द्रव्योंसे समस्त पृथ्वीतल, देवताओं और पितरोंके समूहको तृप्त करती हो । सभी रसज्ञ तुमसे परिचित हैं और तुम मधुर स्वाद प्रदान करनेवाली हो । सम्पूर्ण चराचर विश्वको तुम्हींने बल और स्नेहका दान दिया है । देवि ! तुम रुद्रोंकी माता, वसुओंकी पुत्री, आदित्योंकी बहन हो और प्रसन्न होनेपर मनोवाञ्छित सिद्धि प्रदान करनेवाली हो । तुम धृति, पुष्टि, स्वाहा, स्वधा, ऋद्धि, सिद्धि, लक्ष्मी, धारणाशक्ति, कीर्ति, मति, कान्ति, लज्जा, महामाया और सर्वार्थसाधिनी श्रद्धा हो । तुम्हारे अभावमें त्रिभुवनमें कुछ भी शेष नहीं रह जायगा । तुम अग्नि और देवताओंको तृप्त करनेवाली हो और इस स्थावर-जङ्गम सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त हो । चारों वेद तुम्हारे चार पैर हैं, समुद्र स्तन हैं, चन्द्र-सूर्य लोचन हैं और तुम्हारे रोमोंके अग्रभागमें देवताओंका निवास है । देवि ! तुम्हारे दोनों सींगोंमें समस्त पर्वत, कानोंमें मरुद्गण, नाभिमें अमृत, खुरोंमें सारे पाताल, स्कन्धोंमें भगवान् ब्रह्मा, मस्तकमें सदाशिव और हृदयमें श्रीविष्णु, पूँछमें पन्नग, गोबरमें वसु, मूत्रमें साध्य देवता, अस्थियोंमें समस्त यज्ञ, गुह्यप्रदेशमें किंनर, सामनेके भागमें पितृगण, ललाटमें यक्ष और दोनों कपोलोंमें विश्वेदेवोंका निवास है । देवि ! तुम सर्वदेवमयी, सभी भूत-प्राणियोंको समृद्धिदायिनी और सर्वलोकहितैषिणी हो, अतएव मेरे शरीरका भी हित करो । अनघे ! मैं प्रणत होकर तुम्हारी पूजा करता हूँ । तुम विश्वका दुःख हरण करनेवाली हो, मैं तुम्हारी स्तुति करता हूँ, तुम मुझपर प्रसन्न होकर मुझे वर प्रदान करो ।'

ब्रह्म सम्पद्यते तदा

(तत्काल ईश्वर-प्राप्ति कब और कैसे होती है ?)

न बिभेति परो यस्मान्न बिभेति पराच्च यः।
यश्च नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥
यदा भावं न कुरुते सर्वभूतेषु पापकम्।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥
संयोज्य मनसाऽऽत्मानमीर्ष्यामुत्सृज्य मोहनीम्।
त्यक्त्वा कामं च मोहं च तदा ब्रह्मत्वमश्नुते॥
यदा श्राव्ये च दृश्ये च सर्वभूतेषु चाप्ययम्।
समो भवति निर्द्वन्द्वो ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥
यदा स्तुतिं च निन्दां च समत्वेनैव पश्यति।
काञ्चनं चायसं चैव सुखं दुःखं तथैव च॥
शीतमुष्णं तथैवार्थमनर्थं प्रियमप्रियम्।
जीवितं मरणं चैव ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥

(महाभा० शान्तिपर्व ० ३२६ । ३३–३८)

जिससे दूसरा कोई प्राणी नहीं डरता, जो स्वयं दूसरे किसी प्राणीसे भयभीत नहीं होता तथा जो न तो किसी वस्तुकी इच्छा करता है और न किसीसे द्वेष ही रखता है, वह तत्काल ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है। जब मनुष्य मन, वाणी तथा क्रियाके द्वारा किसी भी प्राणीके प्रति पापभाव नहीं करता अर्थात् समस्त प्राणियोंमें द्वेषरहित हो जाता है, उस समय वह ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है। जब मोहमें डालनेवाली ईर्ष्या, काम एवं मोहका त्याग करके साधक अपने मनको आत्मामें लगा देता है, उस समय वह ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। जब यह साधक सुनने और देखने योग्य पदार्थोंमें तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें समान भाववाला हो जाता है एवं सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे रहित हो जाता है, उस समय वह ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है। जिस समय मनुष्य निन्दा और स्तुतिमें समान भाव रखता है, सोना-लोहा, सुख-दुःख, सर्दी-गर्मी, अर्थ-अनर्थ, प्रिय-अप्रिय तथा जीवन-मरणमें भी उसकी समान दृष्टि हो जाती है, उस समय वह साक्षात् ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है।